॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला ६६

कविवर डा० रामकुमार वर्मा और उनका काव्य

प्रो० दशरथ राज

एम० ए०, पी-एच० डी०

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
96
*****

KAVIVARA DR. RĀMAKUMĀR VARMĀ AUR UNAKĀ KĀVYA

By
Prof. Dasharatharai
M. A., Ph. D.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1966

सस्नेह

रुक्मा

को

दशरथराज

दो शब्द

कविवर डॉ० रामकुमार वर्मा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को प्रस्तुत करने का यह लघुतम प्रयास है। बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न डॉ० वर्माजी का आलोचक रूप इतना विकसित रहा है, कि उनका कवि रूप लुप्तप्राय रहा है। आलोचना मस्तिष्क का कार्य है, जहाँ कि कविता हृदय एवं आत्मा की वाणी है। अतः सम्भव है कि डॉ० वर्माजी का व्यक्तित्व उनके भाव पक्ष—आत्म-प्रदर्शन में—उनके काव्य में ही अभिव्यक्ति पा सका हो। इन पंक्तियों के लेखक ने अनुभव किया है कि डॉ० वर्मा अपने वास्तविक रूप में अपने काव्य में ही उपस्थित हो सके हैं और उसने कवि को उसके निजी आलोक में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

लेखक डॉ० रामकुमार वर्माजी का हृदय से आभारी है जिन्होंने अपनी रचनाओं से प्रतिनिधि रचनाओं के संकलन की अनुमति देकर इस कार्य को पूर्ण बनाने में सब से बड़ा योग दिया है। लेखक चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के व्यवस्थापक श्री गुप्तजी का भी आभारी है जिनके सतत आग्रह एवं प्रेरणा ने इस रचना को पुस्तक रूप प्रदान किया है।

लेखक उन समस्त महानुभावों के प्रति भी आभार प्रदर्शन करना अपना कर्तव्य समझता है जिनकी रचनाओं का उसने उपयोग किया है और यथास्थान उसका संकेत पादटिप्पणी में कर दिया है।

विश्वास है कि पाठकों को इस संग्रह द्वारा कवि के व्यक्तित्व और काव्य का मर्म समझने में विशेष सहायता मिलेगी।

विनीत

दशरथराज

कविवर डॉ० रामकुमार वर्मा

और

उनका काव्य

डा० रामकुमार वर्मा कवि की अपेक्षा एक सफल आलोचक के रूप में अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। डा० वर्मा बहुमुखी प्रतिभा लेकर हिन्दी साहित्य जगत् में उतरे, वे एक साथ सफल आलोचक, सफल एकांकीकार (उन्हें हिन्दी के एकांकी नाटकों का जन्मदाता भी माना जाता रहा है), साहित्य शास्त्र के मर्मज्ञ पण्डित, दार्शनिक तथा एक सफल कवि के रूप में हमारे सामने आए। उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय प्रत्येक क्षेत्र में समान सफलता से दिया है। कवि और गद्यकार होने के साथ ही वे आलोचक एवं दार्शनिक रहे हैं, इसलिए उनकी रचना में अनुभूति और चिन्तन का पक्ष नित्य ही जागरूक और सबल रहा है। उनके इन रूपों को अलग-अलग करके देखना, उनका एकांगी चित्रण ही होगा। वास्तव में किसी भी कलाकार की समस्त कला-कृतियों को एक कला-कृति मान कर उसका मूल्यांकन करना अधिक समीचीन होता है परन्तु इस छोटी-सी भूमिका में उनके व्यापक साहित्यिक स्वरूप का अंकन करना सम्भव नहीं है। यहाँ उनके कवि रूप पर ही संक्षेप में विचार करने का प्रयास किया गया है।

डा० रामकुमार वर्मा की प्रथम काव्य-कृति अंजलि का रचना-काल सन् १९२९ ई० रहा है जब कि छायावाद अपने उत्कर्ष को पहुँच चुका था और छायावादी युग की चार महान् विभूतियों की रचनाओं ने हिन्दी जगत् को प्रभावित कर लिया था एवं हिन्दी जगत् में अपना विशेष स्थान बना लिया था। अतः हमारे कवि पर भी उस युग की छाया पड़ना सहज स्वाभाविक था। हमारे कवि की आरम्भिक रचनाओं पर छायावादी विचारधारा का प्रभाव अवश्य दृष्टिगत होता है पर प्रधान रूप से वे छायावादी परम्परा में न बैठ कर रहस्यवादी परम्परा में ही बैठते हैं। अंजलि की भूमिका में उन्होंने छायावाद के रूप पर प्रकाश

डालते हुए, छायावाद को रहस्यवाद से अभिन्न माना था—'छायावाद का अर्थ रहस्यवाद के अन्तर्गत ही समझना चाहिये। रहस्यवाद की विवेचना अत्यन्त मनोरञ्जक होने पर भी दुःसाध्य है। + + + + + + परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है। अनन्त पुरुष का आभास सान्त प्रकृति में होने लगता है। अपरिमित ईश्वर परिमित संसार में अपनी छाया फेंकता हुआ नज़र आता है। पुरुष या ईश्वर की इसी छाया का जब कवि संसार के अंगों में वर्णन करता है तो उस वर्णन को छायावाद का नाम दिया जाता है।'[1]

कवि का छायावाद विषयक दृष्टिकोण सदोष है। उन्होंने रहस्यवाद पर ही प्रकाश डाला है और छायावाद तथा रहस्यवाद को अभिन्न मानने के कारण ही उन्हें भ्रान्ति भी हुई है। छायावादी युग की रचनाओं में रहस्योन्मुखी प्रवृत्ति का अभाव देखकर वे यहाँ तक कह बैठते हैं कि—'मैं यह नहीं समझ पाता कि पढ़े-लिखे लोग छायावाद का वास्तविक मर्म समझे बिना ही क्यों किसी पद्य को छायावादी कविता का नाम दे देते हैं। **मेरे विचार में तो हिन्दी कविता में अभी छायावादी कविता की सृष्टि ही नहीं हुई।** मुझे ऐसी कविता आज तक देखने को नहीं मिली जिसमें छायावाद की सच्ची अभिव्यक्ति हो।'[2] जहाँ एक ओर कवि के विचार भ्रामक हैं, वहाँ दूसरी ओर उनमें अहं की गन्ध है कि कवि अपने सामने अन्य कवियों को कवि ही नहीं मानता मानों उन्होंने कविता ही न की हो। कविवर प्रसाद, कविवर निराला, कविवर सुमित्रानन्दन पन्त तथा सुश्री महादेवी वर्मा ने दोनों काव्य मतों में तात्त्विक अन्तर माना है। जहाँ तक कवि पक्ष के विवेचन का

---

१. अंजलि—डा० रामकुमार वर्मा–पृष्ठ १३–१४ अपने विचार।

२. अंजलि—अपने विचार–पृष्ठ १६–१७।

प्रश्न है उक्त चारों विभूतियों की काव्य साधना डा० वर्मा की रचना से हर दृष्टि में उच्चकोटि की रचना सिद्ध होती है। हमारा कवि उनकी समस्त साहित्य साधना के प्रति इस प्रकार का उपेक्षा का भाव प्रकट करेगा, ऐसी आशा ऐसे उच्च कोटि के मार्मिक विद्वान् और समीक्षक से नहीं रखी जा सकती। ये विचार निस्संदेह उनके आरम्भिक विचार हैं, उन्होंने साहित्य समालोचना नामक ग्रंथ में भी छायावाद और रहस्यवाद में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं दिखाई है और छायावाद को स्पष्ट करने के लिए सूफ़ी भावधारा का ही आधार लिया है।[१] उन्होंने छायावाद की सफलता में चार बाधाएँ बतायी हैं—'सच्चे छायावाद की सफलता में ये चार बाधाएँ हो सकती हैं—पहली बाधा तो अत्यधिक भावुकता का होना है। + + दूसरी बाधा सत्य के सौन्दर्य में भावात्मक कल्पनाएँ करना है। + + तीसरी बाधा है कवि का सदैव के लिए आकाश में उड़ कर पृथ्वी पर न आना। + + चौथी बाधा है ईश्वर की सत्ता के सामने आत्मा की सत्ता का विनाश।'[२] उनकी साहित्य समालोचना कृति पर सामयिकता का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, जहाँ कवि ने जीवन की गम्भीर अनुभूतियों के प्रति सजगता की माँग की है।[३]

छायावादी युग के कवियों ने छायावाद पर प्रकाश डालते हुए छायावाद में अनुभूति पक्ष की प्रधानता बताई है। डा० रामकुमार वर्मा ने भी अपने लेख 'छायावाद का प्रभाव—कविता पर' में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं—'छायावाद वास्तव में हृदय की एक अनुभूति है। वह भौतिक संसार के क्रोड़ में प्रवेश कर अनन्त जीवन के तत्त्व ग्रहण करता

---

१. साहित्य समालोचना—डा० रामकुमार वर्मा–पृष्ठ १९–२५।

२. वही—पृष्ठ २५–२६।   ३. वही—पृष्ठ २२।

है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोड़कर हृदय में जीवन के प्रति एक गहरी संवेदना और आशावाद प्रदान करता है।'[१]

छायावादी कविता में प्रकृति की प्रधानता को देखकर डा० वर्मा ने प्रकृतिवाद को छायावाद की प्रथम सीढ़ी बताया है—'वर्तमान कवियों को प्रकृति की गोद में खेलने ही में आनन्द आता है। उन्हें प्रकृति की अनेक विभूतियों का विराट् स्वरूप देखने को मिलता है और वे उन्हीं में या तो खो जाते हैं या अपने को भूल जाते हैं। + + प्रकृति का क्षेत्र ही इन कवियों की कविता का क्षेत्र है। ऐसी स्थिति में इस कविता को यदि 'छायावाद' के बजाय 'प्रकृतिवाद' कहें तो अधिक युक्ति-संगत होगा। अनन्त के सम्मिलन की आकांक्षा और अन्तिम संयोग के पहले कवि को प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का अन्वेषण करना पड़ता है। उसे पहले प्रकृति का मर्म जानना पड़ता है, प्रकृति का ज्ञान आत्मा के ज्ञान के पहले होना चाहिये। अतएव 'प्रकृतिवाद' को हम छायावाद की पहली सीढ़ी मान सकते हैं।'[२] डा० वर्मा के छायावाद विषयक विचारों पर तत्कालीन आलोचना का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

कवि की विचारधारा को समझने से पूर्व छायावाद और रहस्यवाद के स्वरूप को संक्षेप में समझ लेना समीचीन होगा जिनके बारे में आज भी विवाद शान्त नहीं हो पाया है और हमारा कवि भी स्वयं दोनों के अन्तर को स्पष्ट नहीं कर पाया है।

छायावाद का अर्थ अन्तर्मुखी वृत्तियों का ऐसा चित्रण है, जो बाह्य प्रभाव से अलग अपने निराले ढंग से होता है। यों तो अन्तर्मुखी वृत्तियाँ भी बाह्य प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकतीं, परन्तु इन कवियों ने एकान्त में बैठ कर अपने भीतर की हलचल को ही व्यक्त

---

१. विचार-दर्शन—डा० रामकुमार वर्मा–पृष्ठ ७२।

२. अंजलि—अपने विचार–पृष्ठ १७–१८।

किया। अकेलेपन में प्रकृति के अतिरिक्त उन्हें कोई साथी नहीं मिला, इसलिए उसका स्वाभाविक सहयोग उनको मिला और उनकी कविता में उसका स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया। महत्त्वपूर्ण ही नहीं, उनकी कविता में प्रकृति स्वयं साकार हो बैठ गई। हमारा कवि भी मानता है कि— 'हृदय की कुतूहलता को शान्त करनेवाली, हृदय की भावनाओं को सुख देनेवाली अनेक वस्तुओं और उनके काल्पनिक स्वरूपों की सृष्टि प्रकृति के गम्भीर विस्तार ही में होती है।''[1] छायावादी युग के कवि युवक थे और युवकोचित प्रेम-भावना उनमें पर्याप्त थी। प्रकृति के साथ वह भी मिल गई। उसकी तृप्ति समाज में असम्भव थी, क्योंकि समाज की मर्यादा बाधक थी। द्विवेदी युग जिसमें छायावाद ने साँस ली, नैतिकता को ही साहित्य का मापदण्ड मान चला था, और ऐसे कठोर नैतिकता के युग में भावनाओं की स्पष्ट अभिव्यक्ति की सम्भावना ही नहीं थी। उन युवक कवियों की वह प्रेम-भावना अतृप्त वासना बनकर काव्य में स्थान पा गई। इसमें साथ कुछ निराशा भी थी, किन्तु जब एक कल्पित प्रेमिका को इन लोगों ने आत्म-समर्पण किया तो वह निराशा, आशा में बदल गई, अतः उल्लास और भव्यता उनकी वाणी में स्वतः प्रविष्ट हो गये। प्रकृति, अतृप्त वासना और मानसिक संघर्ष को व्यक्त करने के लिए उन्हें नई कला की शरण लेनी पड़ी।

छायावाद में प्रकृति में न केवल रूप, आकार, चेतना ही देखे गये अपितु मानव-जगत् की भाँति प्रकृति-जगत् में वस्तुएँ एक दूसरे से सम्बन्धित भी बतायी गयी हैं। इन सम्बन्धों में सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध है प्रेम का। यह प्रेम का भाव जब नर और नारी के बीच में रहता है तो उसे प्रेम या लौकिक प्रेम (इश्क़ मजाज़ी) कहते हैं और इस प्रेम को प्रदर्शित करनेवाली कविता रोमाण्टिक कविता कहलाती है। यही प्रेम जब

---

१. अंजलि—अपने विचार—पृष्ठ १७।

आध्यात्मिक रूप धारण कर लेता है, और जीवात्मा परमात्मा के बीच में दर्शाया जाता है तो वह रहस्यवाद के रूप में प्रकट होता है। यह प्रेम जिज्ञासा से उत्पन्न होता है और दर्शन और विरह के उपरान्त मिलन में समाप्त हो जाता है। रहस्यवाद को भी दो भागों में विभाजित किया जाता है—साधनात्मक रहस्यवाद और भावात्मक रहस्यवाद। कबीर का रहस्यवाद साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत आता है और जायसी तथा अन्य सूफ़ी कवियों का रहस्यवाद भावात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत आता है। कुछ समीक्षकों ने भावात्मक रहस्यवाद को छायावाद के अन्तर्गत रखा है और छायावादी कवियों की भावावेश से भरी रचना को इसी कोटि में रखा है। वैसे जब यह परस्पर आकर्षण प्रकृति की दो वस्तुओं के बीच होता है तो उस परिणय को छायावाद कहा जाता है।

धर्म, दर्शन, एवं काव्य के द्वारा हम चरम सत्य को पहचानना चाहते हैं। धर्म प्रधानतः काव्य अंशतः और दर्शन अन्ततोगत्वा इस पर विचार करता है। धर्म विश्वास का पक्षपाती है, काव्य भाव का और दर्शन तर्क का। उसी दर्शन से सिद्ध, धर्म से विश्वसनीय सत्य ब्रह्म को काव्य में प्रिय रूप प्राप्त हो जाता है। धर्म, दर्शन और काव्य तीनों ही उस रहस्यात्मा को खोजने के भिन्न-भिन्न मार्ग अपनाते हैं जो तीनों ही रहस्यवाद में आकर मिल जाते हैं।

छायावाद के विषय में हम कह सकते हैं कि जीवन की अतृप्त भावनाओं की मन में उठनेवाली कसक बाहर न निकल पायी और भीतर ही भीतर क्षति के छाया-चित्र से अवचेतन मन पर निर्माण होने लगे। फिर भी मनुष्य कभी भी आशा विहीन नहीं रहा, इसलिए उस आशा और निराशा के मिश्रित चित्र जब काव्य में प्रस्फुटित हो पड़े तो उन्हें छायावाद नाम दिया गया। वह निकट वास्तविकता कष्टदायक थी इसलिए उसके प्रति उपेक्षा भाव के कारण विमुखता दिखाई गई और

स्वप्निल लोक का निर्माण हुआ जहाँ पर जीवन के उन अभावों की काल्पनिक क्षतिपूर्ति की जाने लगी। वे भावनाएँ या तो स्वर्ण अतीत में अथवा आदर्श भविष्य में अपनी परितृप्ति खोजने लगीं। छायावाद ने वास्तविक जगत् को छोड़कर काल्पनिक जगत् में ही अपने को खुश रखने की कोशिश की। कुछ समीक्षकों ने छायावादी कवियों को पलायनवादी माना है पर यह पलायनवाद न था, वरन् वास्तविक कठोरता को आत्मसात् करके भी बाहर से मुस्कराना था। अतः हम इसे पलायनवाद नहीं कह सकते।

इन कवियों की रचना में व्यक्तित्व की झलक अधिक है क्योंकि वह स्वानुभूति पर आधारित है और उन्होंने अपनी सुख-दुःखमय भावनाओं का प्रकृति पर आरोप किया है या समष्टि में व्यष्टि को देखा है। दूसरे रूप में, वे भूलकर व्यष्टि में ही लीन रहे हैं। उनका संसार 'स्व' तक ही सीमित रहा है। द्विवेदी युग की जड़ इतिवृत्तात्मक एवं उपदेशात्मक कविता में मानसिक प्रेरणा की कमी थी, उसमें हृदय का स्पन्दन था ही नहीं, उसमें थे दिमाग़ के—बुद्धि के जड़ सिद्धान्त। वहाँ भावनाएँ न थीं। पर सिद्धान्तों पर सदा ही भावनाओं ने विजय पायी है, इसलिए इस जड़ कविता की प्रतिक्रिया के रूप में ही छायावाद की भाव-प्रधान कविता का श्रीगणेश हुआ जिसमें लोगों ने अपनी ही भावनाओं की अभिव्यक्ति पायी। सत्य से कल्पित सदा सुन्दर रहा है। इसलिए इस कविता में शृङ्गारिकता का भी समावेश हो गया। यह भाव तो कविता में आया पर उस समय के कवि में उतनी हिम्मत न थी कि वह सामाजिक नियमों के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला अपने परिणय—प्रेम के गीत गाये। इसलिए उसने अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए प्रतीकात्मक साधन ढूंढ़ निकाले। उनकी भावनाएँ अस्पष्ट रूप में ही प्रतीकात्मक व्याख्याओं द्वारा व्यक्त होने के कारण छायामय सी रहीं इसलिए भी इस युग के

काव्य को छायावाद का नाम मिला। कुछ समीक्षक छायावादी कविता में प्रकृति की ओर ललक देखकर उसे प्रकृति का काव्य कहते हैं किन्तु छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है पर प्रकृति के माध्यम से मानवीय भावनाओं का ही अंकन प्रधान रहा है। प्रकृति काव्य में प्राकृतिक वर्णन की विषयगत प्रधानता होती है किन्तु यहाँ पर विषयगत प्रधानता की अपेक्षा विषयीगत प्रधानता ही प्रधान रूप में पायी जाती है। इस काव्य में प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छाया-चित्र उठे उनका चित्रण है। मनुष्य के मन की कुण्ठित वासना अवचेतन में पहुँच कर सूक्ष्म रूप धारण कर प्राकृतिक प्रतीकों द्वारा व्यक्त हुई है। इसलिए इस काव्य में प्रकृति पर मानवी व्यक्तित्व का आरोप नज़र आता है। महादेवी वर्मा ने कहा है, 'छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद है।' और यह उक्ति प्रकृति के अन्तर में प्राण चेतना की भावना को अभिव्यंजित पाकर ठीक नज़र आती है क्योंकि छायावाद में प्रकृति मानो नाना रूपों में मुखरित हो उठी है। छायावादी कवियों ने प्रकृति में अपनी ही भावनाओं को चेतन रूप देने का प्रयत्न किया है, अतः छायावाद में प्रकृति में चेतना का आरोप विशेष प्रधान गुण बन गया, किन्तु उन कवियों ने इसके लिए आलङ्कारिक रूप को न अपनाकर वास्तविक ढंग को ही अपनाया और उनकी भावनाओं से आरोपित प्रकृति मानवीय भावनाओं का अंकन करने लगी।

छायावादी कवियों ने प्रकृति का तन ही नहीं, मन भी देख लिया और मनोभावनाओं को भी पढ़ने का प्रयत्न किया। सर-सरिता, सुमन, बादल, नक्षत्र आदि के सम्पर्क में वे आते हैं तो उनके रूप निहारने की अपेक्षा उन्हें उनके हृदय की बात सुनना अधिक भाता है। आज का कवि तो बूँद के उच्छ्वास को भी अनसुनी नहीं करता और मानो सिद्ध करता है कि 'ए पोएट फ़ाइंड्स बुक्स इन ब्रूक्स एण्ड सर्मन्स इन स्टोन्स।'

रहस्यवाद का अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए आलोचकों को छायावाद ने ही आकर्षित किया पर वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से रहस्यवाद का स्थान छायावाद से बहुत पहले आता है। हिन्दी साहित्य में सर्व-प्रथम इसे अवतरित करने का श्रेय मध्य युग को ही प्राप्त होता है जहाँ सिद्ध सम्प्रदाय और नाथ पंथ ने इसकी राह प्रशस्त कर सन्त कवियों के लिए इस पथ को उन्मुक्त कर दिया था। वैसे सगुण भक्ति में भी कहीं-कहीं रहस्य-भावना के दर्शन होते हैं पर रहस्यवाद का मूल आधार निर्गुण ब्रह्म ही है। निर्गुण में उस परोक्ष सत्ता का स्वरूप अनिश्चित होने के कारण अपने में स्वयं एक रहस्य बना रहा है अतः निर्गुणोपासना में रहस्यवादी भावना का समावेश भी सहज भाव से हो गया है। जीवात्मा की परमात्मा से यह प्रणयानुभूति सहज अभिव्यक्ति पाने में असमर्थ होकर प्रतीकात्मक रूप में अभिव्यक्त हुई और साहित्य में रहस्यवादी भावधारा का जन्म हुआ। अपने मनोभावों को, अपने को अभिव्यक्त करने के लिए कवि के पास कोई और चारा था भी नहीं, अतः उसे विवश होकर प्रतीकों की शरण लेनी पड़ी। कविवर बच्चन ने वेरिस पेस्टरनाक की उक्ति—**'प्रतीक अहं की कारा से निकलने के द्वार हैं'**, को प्रतीक-पद्धति को स्पष्ट करने के लिए अपनाते हुए कहा है, 'ऐसी स्थिति की अभिव्यक्ति में प्रतीकों की भाषा स्वाभाविक होती है। प्रतीकों से कवि का कितना तादात्म्य है यह भावों की तीव्रता पर निर्भर होगा।'[१] वैसे छायावादी तथा रहस्यवादी रचना में आत्मनिष्ठता समान है पर छायावाद में वह लौकिक रंग से पगी हुई है तो रहस्यवाद में आध्यात्मिक रंग से। अतः हम कह सकते हैं कि छायावादी अनुभूति का मूल आलम्बन हृदय के बाहर की वस्तु होता है पर रहस्यात्मक अनुभूति का आलम्बन व्यक्त जगत् में खोजना सम्भव नहीं, वह मन की ही वस्तु

---

१. कवियों में सौम्य संत—हरिवंशराय बच्चन–पृष्ठ १३९।

होता है। रहस्यवाद में सूक्ष्म आध्यात्मिकता की स्थूल अभिव्यक्ति होती है (सूक्ष्म तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए बाह्य स्थूल जगत् को उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना पड़ता है) तो छायावाद में स्थूल भौतिकता का सूक्ष्म रूप में प्रकाशन होता है।[1]

कविवर डा० रामकुमार वर्माजी ने रहस्यवाद के विषय में लिखा है, 'रहस्यवाद आत्मा में विश्वात्मा की अनुभूति है। उसमें विश्वात्मा का मौन आस्वादन है'। प्रेम के आधार पर वह आत्मा और विश्वात्मा में ऐक्य स्थापित करता है। + + इसमें 'व्यक्ति' का विनाश न होकर उसका विकास है। गुण का लोप न होकर ऐक्य है। + + साधिका आत्मा ब्रह्म की लाली में मिलकर भी कहती है लो, मैं भी लाल हो गई। 'नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं'।[2]

हमारे कवि ने छायावाद को किस प्रकार रहस्यवाद के अन्तर्गत माना है, इस पर उनके विचारों के आधार पर प्रकाश डाला जा चुका है। रहस्यवाद के बारे में हमारे कवि ने सूफी भावधारा का ही अनुसरण किया है। अपनी आरम्भिक रचना अंजलि में रहस्यवाद को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। ऐसी स्थिति में परमात्मा के बिना जीवात्मा की शक्तियों का विकास नहीं होता। इसी विचार के वशीभूत होकर कदाचित् शमसी तबरीज़ ने कहा था :—'दर खाना ए आबो गिल बे तुस्त खराब ई दिल, या खाना दर आ ए जाँ या खाना

---

१. मैंने इन समस्त वादों का विशेष अध्ययन अपनी नई कृति 'हिन्दी साहित्य के प्रमुख वाद' में किया है।

२. आधुनिक कवि भाग ३—रामकुमार वर्मा—मेरा दृष्टिकोण—पृष्ठ १२–१३।

बिपरद्‌ाजम।' अर्थात् इस पानी और मिट्टी के मकान में तेरे बिना यह हृदय खराब है। या तो मकान के अन्दर आ जा, ऐ मेरी जां, या मैं इस मकान को छोड़ देता हूँ। कबीर ने भी इसी से मिलता जुलता विचार प्रकट किया था—'**कहे कबीर हेर दरस दिखाओ, हमहिं बुलाओ कि तुम चलि आओ।**' इस प्रेम का सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।'[1] 'कबीर का रहस्यवाद' नामक ग्रन्थ में डा० वर्माजी ने बड़े विस्तार पूर्वक रहस्यवादी विचारधारा पर प्रकाश डाला है। वहाँ पर उनके रहस्यवादी विचार उनके 'आधुनिक कवि भाग ३ में मेरा दृष्टिकोण' के अन्तर्गत आये विचारों से पूर्ण मेल नहीं खाते। सम्भवतः इसका कारण यह रहा हो कि वहां कबीर के रहस्यवाद को जिसे हम साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत रखते हैं, स्पष्ट करते समय, कबीर की विचारधारा को प्रधानता देने के लिए, कबीर पर पड़े हठयोग के प्रभाव के कारण अद्वैतवाद को रहस्यवाद का प्राण माना हो[2] जहाँ कि आधुनिक कवि भाग ३ में अभिव्यक्त विचारों से इस बात का परिचय मिलता है कि वे अद्वैत की भावना में विश्वास नहीं करते बल्कि आत्मा की सत्ता का अस्तित्व 'उससे' मिलन की अवस्था में भी स्वीकारते हैं। उनका यह विचार भावात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत अवश्य रखा जा सकता है, जो सूफ़ी विचारधारा से प्रभावित भी नज़र आता है और उसको अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने सूफ़ी संत कवि जलालुद्दीन रूमी की विचारधारा का अवलम्ब भी लिया है। उन्होंने अद्वैतवाद और रहस्यवाद के अन्तर

---

१. अंजलि—अपने विचार-पृष्ठ १३-१४—इसी विचारधारा को कवि ने छायावाद के लिए साहित्य समालोचना—पृष्ठ १९-२० पर प्रस्तुत किया है।

२. कबीर का रहस्यवाद—पृ० २०।

पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'अद्वैतवाद में मिलाप की भावना का ज्ञान भी नहीं रहता, रहस्यवाद में यह मिलाप एक उल्लास की तरंग बनकर आत्मा में जागृत रहता है। जब एक जल-बिन्दु अनन्त जल-राशि में मिलकर अपना अस्तित्व खो देता है तब उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं रहता। वह भावना अद्वैतवाद की है। लेकिन रहस्यवाद में अस्तित्व का पूर्ण विनाश नहीं होने पाता। मिलाप की भावना रखते हुए भी व्यक्तित्व की यह सूक्ष्म जागृति रहती है कि 'मैं मिल रहा हूँ'।'[1] दूसरी ओर हमारे कवि ने सूफ़ी मत को मूलतः वेदान्त का रूपान्तर माना है।[2]

अतः हमारे कवि की यह विचारधारा उन्हें एक भावात्मक रहस्यवादी कवि की कोटि में लाकर खड़ा करती है जहाँ साधक हर वस्तु में उसकी छबीली छबि को देखता है :—

ओसों का हँसता बाल रूप, यह किसका है छबि-मय विलास ?
विहगों के कंठों में समोद यह कौन भर रहा है मिठास ?
—चित्ररेखा—पृष्ठ १०

और फिर महसूस करता है कि जीवन का उद्देश्य ही उसकी छबि का पान है जिसकी पिपासा लिए आत्मा नित्य तृषित पुकार करती रही है :—

दिव्य जीवन है छबि का पान, यही आत्मा की तृषित पुकार।
—रूपराशि

छायावादी कवियों में भी सौन्दर्य की यही ललक दृष्टिगत होती है, कविवर पन्त प्रार्थना करता प्रतीत होता है :—

विश्वकामिनी की पावन छबि मुझे दिखाओ करुणावान।
—पल्लव—पृष्ठ ४३

---

१. आधुनिक कवि भाग ३—पृष्ठ १२।
२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृष्ठ ३०१।

उनकी सौन्दर्य की खोज की भावना निम्न पंक्तियों में स्पष्ट है :—

कहीं कांटे हैं कुटिल कठोर, जटिल तरु-जाल हैं किसी ओर।
सुमन-दल चुन-चुनकर निस भोर, खोजना है अजान वह छोर ।।

—उच्छ्वास—पृष्ठ ६

निरालाजी भी अपने को भूलकर सौन्दर्य का गीत गाने को उत्सुक हैं :—

गाने दो प्रिय मुझे भूलकर अपनापन अपना जग सुन्दर।

—गीतिका

सौन्दर्य-लालसा पन्त में सभी कवियों से अधिक मात्रा में विद्यमान है। कवि सौन्दर्य में ही सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का अवलोकन करता है :—

अकेली सुन्दरता कल्याणि सकल ऐश्वर्यों की संधान ।

—पल्लव—पृष्ठ ८१

सौन्दर्य, प्रेम और प्रकृति सब कवि को एक अज्ञात रहस्यमयी सत्ता की ओर उन्मुख करते हैं और वह गा उठता है :—

देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात ?
एक स्वप्न बन गयी तुम्हारे प्रेम-मिलन की बात !
तुमसे परिचित होकर भी मैं तुमसे इतनी दूर !
बढ़ना सीख-सीख कर मेरी आयु बन गयी क्रूर !
मेरी सांस कर रही मेरे जीवन पर आघात ।
यह ज्योत्स्ना तो देखो नभ की बरसा हुई उमंग,
आत्मा सी बनकर छूती है मेरे व्याकुल अंग,
आओ चुम्बन सी छोटी है यह जीवन की रात !

—चित्ररेखा—पृष्ठ १

बस वह तो उसकी छबि को कल्पना की तूलिका में बाँधने की फ़िक्र में है क्योंकि विश्व में और कोई साधन भी तो सुलभ नहीं जिसके माध्यम से उस अपरूप को रूप दान दिया जा सके। और यह कल्पना भी तो कसकती वेदना की ही परिचायक है :—

मेरे मन के भाव बनेंगे रंग तूलिका रूप
उनसे ही खींचा जावेगा ऐसा चित्र अनूप
जिससे होगा जीवित मेरी करुणा का आख्यान
और वेदना का विलास नव-विरहिणी सा ध्वनिमान।

—निशीथ—तृतीय सर्ग—पृष्ठ ३८

अंजलि में ओस बिन्दुओं के व्याज से कवि ने अपने अश्रुमाल की भेंट अपने प्रियतम को समर्पित की है :—

ओसों के बिखरे वैभव !
फैले हो अवनी पर, शासन करने का यह अनुपम ढंग।
तुमसे भी तो कोमल है मेरे प्रियतम का उज्ज्वल अंग।
मत उड़ना ए, अश्रु-बिन्दु बन करना उन फूलों में वास।
मेरा अनुपम धन आवे जब तक इस निर्धन के पास।
आने पर उनके चरणों पर गिरकर हो जाना बलिहार।

—अञ्जलि—पृष्ठ २

कवि अपने कोकिल स्वर को खोज रहा है, ताकि वह उसे पुकार सके :—

मैं खोज रहा हूँ कोकिल-स्वर।
बतला दो मेरे नील-व्योम मैं इस संसृति से हूँ कातर।

—चित्ररेखा—पृष्ठ ३१

इस नीली संध्या ने आनेवाली रात्रि का संदेश दिया है, पर कवि उस मिलन-रजनी में एकाकी-पन के भार की कल्पना से ही काँप उठा है :—

पृथ्वी प्रशान्त है नव-विवाहिता सी, अविदित चुपचाप !
सन्ध्या का यह श्याम मौन मुझको तो है अभिशाप !
निष्ठुर प्रेमी या प्रकाश है चला गया किस ओर ?
छोटे-छोटे क्षण भी अब बढ़-बढ़कर हुए कठोर।

—चित्ररेखा—पृष्ठ १५

किन्तु व्यथा की दशा में भी यह जीवन नौका मानो व्यथा को धारा

बना कर उसमें बहती बढ़ती रहना चाहती है कि सम्भवतः उससे मिलन हो जाय :—

निस्पन्द तरी, अतिमन्द तरी,
साँसों के दो पतवार चपल, सम्मुख लाते हैं नव पल-पल।
अविदित भविष्य की आशंका की छाया है कितनी गहरी ।।

—चित्ररेखा—पृष्ठ ३५

विरह की वेदना में जीवन वीणा के तार झनझना उठे हैं :—

जीवन-तंत्री के तार-तार !
मदन-तीर की पीड़ा लेकर कसक रहे हैं बार-बार !
नव-बाला के यौवन से साकार और कुछ निराकार !
मींड़ वेदना है उसमें सुख स्वर्ग तड़पता बार-बार !

—चित्ररेखा—पृष्ठ ४२

और कवि महसूस करने लगता है कि **'जीवन है साँसों का छोटे-छोटे भागों में चिर-विलाप'** यही वेदना, कविता बनकर कसक उठती है :—

करुण स्वर के छन्द में है, तीन कविता आयु भर की।

—आकाश गंगा—पृष्ठ ५६

और इस करुण भाव का सारा श्रेय उस परम सत्ता को ही देना पड़ेगा जिसने कभी उनके नीरस जीवन में अपनी सुन्दर छबि से सौन्दर्य सुधा का वर्षण कर उसके मन में आशाओं का उफान उठा खड़ा किया था :—

मेरे इस जीवन-मरु में क्यों रूप सुधा बरसाई ?
दो क्षण के प्रभात में ऐसी जीवन-निधि क्यों आई ?

—संकेत

पर ये दो क्षण (मिलन का अवकाश तो क्षणों में ही नापा जाता है भले ही कितना ही दीर्घकाल क्यों न व्यतीत हो गया हो और विरह के क्षण भी अपनी विषमता के कारण वर्षों से विस्तीर्ण होकर उनसे स्पर्धा सी

करने लगते हैं) बीत जाने के बाद छोड़ जाते हैं स्मृतियों का सार। और स्मृतियाँ ? जो जलाती और जिलाती हैं। दाहक होते हुए भी ये स्मृतियाँ कितनी मधुर होती हैं ? कोई इनसे सम्बन्ध तोड़ना भला कब चाहता है ? उन विगत स्मृतियों पर तो जिया जाता है तभी तो वे इतनी प्रिय बन जाती हैं कि कविवर प्रसाद ने कह दिया था—**'हम तो भूल गये हैं तुमको, पाकर प्रेम-मयी पीड़ा।'** और प्रिय के वियोग की पीड़ा में तो प्रिय और भी अधिक याद आता है। हमारा कवि भी सोचता है कि कहीं उसकी इस बार-बार की पुकार से वह सोया हुआ प्रियतम जाग पड़े तो कितना अच्छा हो! वह उसके मिलनानन्द का अवसर तो पा लेगा :—

> दुख की इस जागृति में कैसे तुम्हें जगाकर मैं सुख पाऊँ ?
>
> —संकेत

ऐसे अवसर पर तो उच्छ्वास और आँसू ही साथी बन जाते हैं। पर ये उच्छ्वास कोई रथ तो हैं नहीं कि प्रिय के पास जाकर उसे बिठा कर हमारे पास ले आते और हमारी पीड़ा को शान्त करते! ऐसा होता तो कविवर प्रसाद की भाँति हमारा कवि भी अपनी आहों की शक्ति में विश्वास रख कर सोचता कि **'मेरी आहों से खिचकर तुम आओगे आओगे, आकर मेरी पीड़ा को तुम रो-रोकर अपनाओगे।'** पर हमारा कवि तो कुछ और ही सोचने लगा है कि ध्वनि तो आज उस-मय हो गयी है, अतः उसको ग़ैरों के सामने प्रस्तुत करना कहाँ तक उचित होगा ? और फिर वह अपनी वाणी की असमर्थता से भी अपरिचित नहीं है कि वह अभिलाषाओं को वहन करने का बल नहीं रखती और अगर इच्छाएँ उच्छ्वासों के रथ पर आरूढ़ होकर प्रियतम के पास जाने को उद्यत भी होती हैं तो वे ही थक कर रुक जाती हैं, जो भी हो, विरह की विषम स्थिति कटने का कोई मार्ग ही नहीं सूझता :—

जिस ध्वनि में तुम बसे उसे,
जग के कण-कण में क्या बिखराऊं !
शब्दों के अधखुले द्वार से अभिलाषाएं निकल न पातीं।
उच्छ्वासों के लघु-लघु पथ पर इच्छाएं चलकर थक जातीं ॥
हाय, स्वप्न-संकेतों से मैं,
कैसे तुमको पास बुलाऊं ?
प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊं ? —संकेत

हम जिसके लिए आंसू बहाते हैं, अगर वह उन आंसुओं को देख ले तो शायद हमारी स्थिति सुधर सकती है पर अगर वह हमारी पुकार सुन ही न पाये तो महसूस होने लगता है कि **'बिन तुम्हारे गीत मेरे हैं अधूरे'** और हमारा कवि भी उसकी याद में रोता-गाता तो रहता ही है पर यह समझ ही नहीं पाता कि वे कौन से स्वर हैं जो प्रियतम को पास ला सकते हैं। अतः कोई चारा न पाकर उसी से उन स्वरों का परिचय पाने के भाव से विलाप कर कह उठता है कि :—

'पर तुम्हें अब कौन स्वर, स्वरकार ! मेरे पास लाये ?'—
—संकेत

प्रियतम को पाने के लिए जितना ही मन विह्वल होता है उतना ही उसे पास पाकर भी होता है। मानो प्रेमी की स्थिति भी सांप-छिछूंदर की सी हो जाती हो जो न तो विरह में चैन पाता है और न मिलन में। भारतेन्दु बाबू ने भी तो दुखिया आंखों की दयनीयता प्रकट की थी—**'इन दुखिया अंखियान को सुख सिरज्यो हू नाहिं। देखे बने न देखते, बिन देखे अकुलाहिं ॥'** और हमारा कवि जो मिलन के लिए विकल था, आज उसे पाकर भी तो कहता है—**'तुम्हें आज पाकर चंचल हूँ, मैं आशाओं के उभार में।'** हमारा कवि तो एक ऐसी पीड़ा को लेकर चला है कि जिसका कहीं कोई अंत नहीं। शायद इसी से उसे महसूस होता है कि उसकी सिसकती भावनाओं में विरहिणी चातकी विराजमान है जो

नित्य ही **पी कहाँ** ? की रट लगाये है कि न जाने वह करुणा की बदली कब बरसेगी और उसे स्वाति सलिल की बूंदों का रस-पान करने का सौभाग्य मिलेगा ! पर वह करुणामय तो मानो करुणा की वृष्टि करना ही भूल गया हो और उसके गुण के याचक की प्रार्थना में आंसुओं की रिमझिम करती वर्षा, वृष्टि कर भी उस प्यासी चातकी की प्यास नहीं बुझा पाती :—

सिसकती-सी भावनाओं में बसी है चातकी।
आज मेरी प्रार्थना रिमझिम बनी बरसात की।

—आकाश गंगा—संकेत

इस चिर विरह की अवस्था में दुख भी तो चिर साथी बन गया है। सुख के दिन क्या स्मरण की चीज हैं ?—**'सुख के दिन क्या हैं अनेक ? वृद्धा के सिर के श्याम केश।'**[1] दुख के मूल-भूत कारण को कवि ने स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया है :—

तुमको अब तक पा न सका हूँ,
यह जीवन की करुण कथा है।
सांसों के पथ पर एकाकिन,
अब तक चलती रही व्यथा है।

—आकाश गंगा

और व्यथा को साथी देने के लिए ही मानों कवि ने आयु को ही प्रतीक्षा की रजनी बना लिया है कि सुहागिन रजनी ही में अपने पिया के मिलन की बाट जोहती रहती है और इस आयु भर की प्रतीक्षा के उपरान्त अगर वह मिल भी जाय पर मिलने पर बात न करे तो भी क्या जी की जलन शान्त होगी ? पर क्या यह मिलन भी एक छल नहीं ? यह तो वह नहीं उसकी छाया है। जैसे चाँद की छाया तो जल-धारा में हिल-डुल कर उसे धोखे में रखती हुई यह कहना चाहती हो कि देखो मैं तुम्हारे कितना पास हूँ, तुममें ही तो हूँ। पर क्या जल-धारा में पड़ने

---

१. साहित्य शास्त्र—डा० रामकुमार वर्मा—पृष्ठ ५३।

वाले उस प्रतिबिम्ब की किसी कला को भी वह जल-धारा अपने भावों में भिगो सकने का सामर्थ्य रखती है ? बिचारा परवाना ! दीपक प्रकाश का जाल फैलाता है और वह उस प्रकाश पर मोहित होकर उसके पास जाता है, मिलन की आस लेकर आगे बढ़ता है और आहत होकर कई बार गिर भी पड़ता है, यहाँ तक कि वह मर भी जाता है पर क्या कभी दीपक ने भी उससे कोई बात की है ? अगर दीपक एक बार भी उसकी बात पूछ लेता, उसकी पीड़ा को सहानुभूतिपूर्वक देखता, तो शायद उसको अपना जलना, जलना प्रतीत न होता। पर जलन तो उस समय और भी बढ़ जाती है, जब कि जिसके लिए हम प्राण भी दे दें और वह दो टूक बात भी न करे :—

फिर भी मैंने अपनी सारी,
आयु प्रतीक्षा की रजनी की।
तुम मुझसे कुछ भी न कहो पर,
जलन न जा सकती है जी की।

जल-धारा पर लहराया शशि,
पर क्या भीगी एक कला भी ?
दीपक क्या कुछ बोल सका,
वह शलभ गिरा, सौ बार जला भी।

—आकाश गङ्गा

कवि की आतुर प्रार्थना में करुणा भरी है :—

मेरे जीवन में एक बार तुम देखो तो अपना स्वरूप।
मैं तुममें प्रतिबिम्बित होऊँ तुम मुझमें होना ओ अनूप !

—चन्द्र-किरण—पृष्ठ ४८

किन्तु यह प्रार्थना प्रियतम के कानों पर पहुँच कर भी न पहुँच पायी :—

भूलकर भी तुम न आये,
आँख के आँसू उमड़कर आँख ही में हैं समाये।

—आकाश गङ्गा

इतना होने पर भी मैं :—

मैं ससीम, असीम सुख से खींचकर संसार सारा।
साँस की विरुदावली से गा रहा हूँ यश तुम्हारा।

—आकाश गंगा

जिसे वह जीवन में न पा सका उसे कल्पना में तो वह कई बार पा चुका है :—

यह है परिचित मधुर साँस, जिसमें अपने को विस्मृत कर
सोये हैं कितने दिवस मास !

—चन्द्र-किरण—पृष्ठ १७

इस कल्पित मिलन में भी वास्तविक मिलन से कम आनन्दानुभूति नहीं है। कवि महसूस करता है :—

मैं तुमको पाकर गया भूल
या उषा-देवि की विधि पहना, सन्ध्या का नश्वर-सा दुकूल !
मैं भूल गया मेरी आत्मा में भरा ज्योति का है समूह।

—चन्द्र-किरण—पृष्ठ ३०

हमारे कवि की पीड़ा का आधार भौतिकता नहीं है। इस भौतिकता के युग में भी हमारे कवि ने आध्यात्मिकता को ही प्रश्रय दिया है। कवि ने अपने गीतों की स्वर-लिपि विरह-गानों को ही माना है :—

इस मधुर संगीत में स्वर-लिपि विरह के गान की है।
एक अनजानी कहानी रसमयी पहिचान की है।

—आकाश गंगा—स्वरलिपि

फिर भी न जाने क्यों डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय को हमारे कवि में रहस्यवाद की सब से कम आभा दिखाई देती है। उनका विचार है—रामकुमार वर्मा में वास्तविक रहस्यवाद की सबसे कम आभा मिलती है। कवि की चेतना पद्धति-निर्वाह सा करती हुई चलती है। 'यह तुम्हारा हास आया' में पद्धति-निर्वाह मात्र ही दिखाई पड़ता है, कवि की 'हृदयग्रंथि' का स्वतः भेदन नहीं दिखाई पड़ता। अतः लौकिक भावनाओं और प्रकृति वर्णन में रामकुमार वर्मा को अधिक सफलता मिली है—'मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूं' जैसी पंक्तियों में महार्घता नहीं आ पाई है। हलकापन आ गया है।''[1]

इसमें संदेह नहीं कि डा० रामकुमार वर्मा का दार्शनिक एवं चिन्तक रूप नित्य जागरूक रहा है किन्तु यह अपराध नहीं माना जा सकता।[2] कविवर प्रसाद के काव्य का दार्शनिक पहलू आधुनिक कवियों में संभवतः अधिक सशक्त रहा हो फिर भी किसी ने उनकी कविता में हलकेपन की बात नहीं कही। दर्शन को साहित्य में उतारना कठिन काम है और जो उसे साहित्य के माध्यम से सुगम बनाकर प्रस्तुत करता है, उसे हम निम्न कोटि का कलाकार कैसे मानें ? फिर तो सम्पूर्ण सूफ़ी साहित्य तथा अधिकतर भक्ति-कालीन साहित्य जिसमें दर्शन की प्रधानता रही है, निम्न श्रेणी का साहित्य माना जायेगा। जीवन का अनिवार्य अङ्ग होने के कारण

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता—सिद्धान्त और समीक्षा—डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय—पृ० २८६

२. "कल्पना जीवन के सत्य एवं प्रकृति के नियमों से सम्बन्ध रखती है। + + इस प्रकार कल्पना जीवन के समानान्तर बहनेवाली एक नूतन प्रकृति की असीम कार्यशक्ति है। संसार में चिंतन को क्रिया का रूप देकर कल्पना चिरंतन सुख की अभिभावक है।"
—संकेत—पृष्ठ ३४

दर्शन का साहित्य में समावेश अनायास ही हो जाता है। यह बात अलग है कि आधुनिक कवियों ने अपने काव्य सिद्धान्तों का भी परिचय दिया है और डा० वर्मा ने अपने रहस्यवादी दृष्टिकोण का स्पष्ट परिचय दिया है। संभवतः उपाध्यायजी का विचार हो कि डा० वर्मा की कविता उनके काव्य सिद्धान्तों का अनुसरण करती हुई रीति-कालीन कविता के अनुरूप उदाहरणों का काम करती रही है, उसमें भाव पक्ष का नितान्त अभाव है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने डा० रामकुमार वर्मा के काव्य 'चित्ररेखा' पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'चित्ररेखा का कवि अनुभूति के भावावेश में अपने को भूल नहीं सकता, अपनी कल्पना को भूल नहीं सकता, अपने ज्ञान को भी नहीं भूल सकता। + + चित्ररेखा की अस्पष्टता अतिरिक्त आत्म-चैतन्य के कारण है। + + चित्ररेखा में स्थान-स्थान पर पाया जानेवाला सौन्दर्य कल्पना की उड़ान और चिन्तन के सामञ्जस्य के कारण है। कल्पना और चिन्तन का सामञ्जस्य कविजनोचित हो सकता है, पर कल्पना और अनुभूति का सामञ्जस्य पण्डित की बुद्धि ही कर सकती है। अनुभूति अन्तिम स्थान है। वहां से चिन्तन की ओर लौटना कवित्व का परिपंथी है, कल्पना की ओर लौटना उसका विघातक है।[1]

डा० वर्मा ने रहस्यवादी भावधारा को स्पष्ट करते हुए इस बात पर प्रकाश डाला है कि साधक मिलनावस्था में भी अस्तित्व-बोध रखता है। साधक के अस्तित्व का लोप किसी भी अवस्था में नहीं होता, भाव साम्य की अवस्था में वह प्रियतम के गुणों से संयुक्त अवश्य होता है फिर भी वह, वह न बनकर उसके नूर की झलक भर रहता है। अनुभूति निस्संदेह अन्तिम ज्ञान है, उसके बाद चिन्तन की आवश्यकता नहीं

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ० १५६–५७।

पड़ती। यह बात प्रत्यक्षानुभूति के लिए मान्य हो सकती है, काल्पनिक अनुभूति के लिए नहीं। काल्पनिक अनुभूति को साधक को खराद पर चढ़ाना ही पड़ता है जिससे कि वह वास्तविकता पर बुद्धि के आधार पर भी विचार कर सके तथा अपनी काल्पनिक अनुभूति को प्रत्यक्षानुभूति की ऊँचाई प्रदान कर सके। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने चित्ररेखा की निम्नपंक्तियों के आधार पर :—

'आह वह कोकिल न जाने
क्यों हृदय को चीर रोई,
एक प्रतिध्वनि सी हृदय में
क्षीण हो हो हाय, सोई,
किन्तु इससे आज मैं कितने तुम्हारे पास आया।
यह तुम्हारा हास आया।'

निर्णय दिया है—'जहाँ अनुभूति का वेग प्रबल होता है, वहाँ 'किन्तु' का स्थान नहीं रहता, वहाँ 'तौ भी' का शासन होता है। बाउलों के एक गान में बताया गया है, प्रेम का प्रतीक है 'तौ भी' क्योंकि प्रेम अपूर्णता को पूर्ण करता है, और ज्ञान का प्रतीक है 'किन्तु' क्योंकि ज्ञान अपूर्णता की खोज में ही व्यस्त रहता है।'[1] किन्तु यहाँ पर डा० वर्मा द्वारा प्रयुक्त 'किन्तु' शब्द **'फिर भी'** अथवा **'तौ भी'** के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'किन्तु' किसी प्रकार कवि की कमजोरी का परिचायक नहीं है। बाल की खाल उखाड़ने की बात अलग होती है।

अर्वाचीन रहस्यवादी काव्य का आधार अधिकतर कल्पना है। उसके पीछे धार्मिक अनुभूति तो है ही नहीं, जहां है वहाँ अधिक गहरी नहीं है। यह न तो साधना का फल है, न उसका विषय ही। उसे हम काव्यशैली मात्र ही कह सकते हैं। परन्तु इस काव्यशैली के भीतर भी बहुत कुछ ऐसा है जो आन्तरिक अनुभूति से ओतप्रोत है। महादेवी वर्मा और

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार—पृष्ठ १५४–५५।

रामकुमार वर्मा के काव्यों में यह आन्तरिक अनुभूति यथेष्ट मात्रा में है। इसी से ये काव्य हमें रहस्यवादी स्फूर्ति प्रदान करने में सफल हैं।[१]

इस भौतिकता के युग में भी हमारे कवि ने आध्यात्मिकता को ही प्रश्रय दिया है। उनके विचार से आज के भौतिक ज्ञान विज्ञान में मानव मन की गहराइयों में पैठने की क्षमता नहीं है। इस बढ़ती हुई भौतिकता की भावना ने जहाँ मनुष्य की स्वार्थी वृत्ति को उकसाया है, वहां उसके स्वार्थ ने, उसकी जिजीविषा ने उसमें प्राणों का ऐसा मोह निर्माण कर लिया है कि वह जीवन के अमिट और सहज धर्म मृत्यु से भयभीत हो उठा है। किन्तु जीवन के रहस्य की झांकी लगानेवाले को जीवन की वास्तविकता का परिचय मिल जाता है और उसका प्रधान भय-मृत्यु भय भी भय नहीं रह जाता। हमारा कवि मृत्यु को जीवन का गुण धर्म मानता हुआ उसे एक चक्र का प्रथम और अन्तिम बिन्दु स्वीकारता हुआ उसी अन्तिम बिन्दु को प्रथम बनने का अधिकारी बताता हुआ अनन्त जीवन में, पुनर्जीवन की भावना में विश्वास रखता हुआ मृत्यु को मात्र एक परिवर्तन और विश्राम स्थल मानता रहा है। हमारा कवि भौतिक निराशावाद का विरोधी है पर आध्यात्मिकता की निराशा को वह जीवन के विकास क्रम के लिए अनिवार्य बताता है। कवि के शब्दों में—'मैं रहस्यवाद की निराशा का पोषक हूँ, भौतिकता की निराशा का नहीं। विनाश और मृत्यु में मनुष्य का विकास और जीवन है। मृत्यु की सुई अपने पीछे जीवन का धागा लिये हुए है।'[२]

---

१. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—डा० रामरतन भटनागर—पृष्ठ ३७७।

२. आधुनिक कवि भाग ३—मेरा दृष्टिकोण—पृष्ठ २०।
उपरोक्त विचारधारा को हमारी कवयित्री महादेवी वर्माजी ने भी इन शब्दों में व्यक्त किया है—
'अमरता है जीवन का ह्रास, मृत्यु जीवन का चरम विकास।'

हमारे कवि ने जीवन और मृत्यु की सीमा रेखा को अपने दो एकांकी नाटकों—उत्सर्ग और अन्धकार—में व्यापक रूप से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उत्सर्ग एकांकी की प्रेरणा ही संभवत: कविवर लांगफेलो की कविता की चार पंक्तियाँ हैं[१] जिनको उन्होंने एकांकी आरम्भ करने से पूर्व उद्धृत किया है। भले ही वे पंक्तियाँ प्रेरक न रही हों पर वे उस एकांकी की मूल विचारधारा को पूर्णरूपेण स्पष्ट करती हैं। और यह विचारधारा हमारे भारतीय गीता के सिद्धान्त के ही अनुरूप पड़ती है जहाँ मृत्यु को जीवन का एक मोड़ बताया गया है, और यह जीवन, जीवात्मा का किसी कार्य-विशेष की पूर्ति के हेतु जगत् में आने के कारण से सम्बन्धित है और जब तक उसका काम पूरा नहीं होता उसे यहाँ रुकना पड़ता है पर उसका वास्तविक स्थान कुछ और ही है।

हमारे कवि ने जीवन को अभिशाप भले ही माना हो, पर उस अभिशाप के पीछे भी उनका रहस्यवादी निराशावाद झलकता दृष्टिगत होता है कि इस जीवन की परिधि के कारण ही आत्मा और परमात्मा का बिछोह हुआ है और इस परिधि के मिटने के सिवा मिलन की कोई संभावना ही नहीं। पर धीरे-धीरे वे अपने जीवन के महत्व को भी पहचानते हैं और मानने लगते हैं कि :—

मैं इस जीवन में आया हूं
तुमसे परिचय पाने।

... ...

---

१. There is no death.
That seems so, is transition.
This life of mortal breath
Is but a suburb of the life elysion,
Whose portals we call death.

—Longfellow

सागर बनकर ओस-बिन्दु में, आया यहाँ समाने।
उड़ जाऊँगा दो क्षण ही में—
जाने या अनजाने॥

... ...

जाग रहा हूँ अन्धकार के—
उर में ज्योति जगाने।[1]

और हमारे कवि की धारणा वास्तव में सत्य ही है कि उसका परिचय इस जीवन के अभाव में सम्भव ही नहीं, जीवन ही उसको पहचानने का एकमात्र मार्ग है, पर मानव इस जीवन का वास्तविक मूल्य न पहचानकर कि यह किस लिये मिला है और कितना क्षणिक है, और उसे क्षणिक स्वीकारता हुआ भी उससे कितना मोह रखता है और दो चार सांसों की सम्पत्ति पाकर इठलाने लगता है। हमारा कवि मानव की इस भावना से दुखी होता है, और आत्मा के व्यापक गुण-धर्म को माननेवाले का यह स्वाभाविक दुख है। यह दुख स्वस्थिति पर न होने के कारण उपकारमय है मानव मन की कमज़ोरी नहीं। हमारा कवि तो अपनी मृत्यु की स्थिति को जानकर भी तुष्ट ही है। वह कहता है—

'इसी मिलन के बलपर मैं, नश्वरता सुख से सहन करूँगा।'[2]

और जो व्यक्ति (साधक—जीवात्मा) अपने अस्तित्व से परिचित है, जागरूक है, उसे मृत्यु भय तो व्याप ही नहीं सकता क्योंकि वह जानता है कि शरीर धर्म है, आत्मा का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। उसे धीरे-धीरे आत्मविश्वास प्राप्त होने लगता है और वह भी अपने रूप को पहचान कर अपने अमरत्व की बात को मुखरित होकर व्यक्त कर उठता है—

---

१. आधुनिक कवि भाग ३—पृष्ठ ४६।

२. वही—पृष्ठ ५५।

इन सांसों के लघु लघु प्रवाह में
बीत चुके हैं मन्वन्तर,
यह सब संसार सिमिट जैसे—
बस गया आज मेरा अन्तर;
चिर अन्धकार में दीपक सी—
मेरी चितवन हो गई अमर,
मैं जागृत हूँ ! मैं सोऊँगा क्यों ?
बिना एक पहिचान लिए ॥[1]

हमारे कवि को भी कविवर प्रसाद की भाँति आत्मविश्वास हो आता है और वह कहने लगता है कि मैं इन साँसों के इस जीवन के माध्यम से तुम्हें पाकर ही रहूँगा, दुनिया तुम्हें पाये न पाये—

मैं तुमसे मिल जाऊँ !
मलय समीरण-सी तुम आओ बन्धनहीन विहारिणि,
जगत् तुम्हें क्या पावे ? मैं अपनी सांसों में पाऊँ ॥[2]

पर इस सब के लिये उसके अनुग्रह की आवश्यकता है। सूफ़ी संप्रदाय में भी पुष्टि मार्ग के अनुसार उसके अनुग्रह का भाव है कि वह जिसको अपनाना चाहता है, वही उसको अपनाने के लिये विकल होकर उसको पाने के लिये प्रयत्नशील होता है। हमारा कवि भी उसकी करुणा का सहारा चाहता है—

मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।[3]

जहां जीवन के माध्यम से जीव ब्रह्म के स्वरूप को समझने में समर्थ होता है वहाँ उसके संकेत इसी जगत् में कण कण में मिलने लगते हैं और

---

१. वही—पृष्ठ ५१–५२।
२. आधुनिक कवि भाग ३—पृष्ठ ५३।
३. वही—पृष्ठ ८।

वह उन संकेतों के सहारे उसे पहचानकर यह भी समझने लगता है कि वह स्वयं उस असीम सत्ता का संकेत चिह्न बन कर रह गया है और अपने माध्यम से उसको व्यक्त करने लगता है। यह वह स्थिति है, जहाँ साधक मन के महल की दीवार को पालिश करके इतना चमका देता है कि वह मुकुर के गुणों से विभूषित होकर हर वस्तु को बिम्बित करने लगती है, वह अपने मन की दीवार को सहस्रों तस्वीरों से नहीं सजाता। और साधक अपने मन को मुकुर बनाकर उसी को प्रतिबिम्बित करने लगता है—

मैं तुम्हारे नूपुरों का हास।
हूँ तुम्हारे आगमन का पूर्व लघु संदेश;
गति रुकी, तो मौन हूँ, गति में अखिल उल्लास।[१]

और वह अपने को अपने प्रियतम के स्वप्न की प्रतिकृति अथवा साकार मूर्ति मानने लगता है जिसको मानो उसने अपनी तुष्टि के लिये मन से निकालकर एक रूप प्रदान कर लिया है और जिसे वह बार बार अपनी इच्छानुसार बिगाड़ता संवारता रहता है। इस भाव की पुष्टि पुष्टि मार्ग में तथा सूफ़ी साधना पद्धति में होती है। कवि कहता है—

प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले स्वप्न का आकार हूँ मैं ?
जो बिखर कर भी सँवरता है वही शृङ्गार हूँ मैं।[२]

रहस्यवाद के अन्तर्गत बाह्य पूजा अर्चा का विधान नहीं है। सहज जीवन ही उसकी सहज आराधना बन जाता है—

आज मेरी गति तुम्हारी आरती बन जाय।[३]

---

१. वही—पृष्ठ ५९।
२. वही—पृष्ठ १४।
३. वही—पृष्ठ ३—इस विचार को महादेवी वर्मा की 'क्या पूजा क्या अर्चन रे' रचना से मिला कर देखा जाय तो वही भाव वहाँ भी

भावात्मक रहस्यवाद जिसके समर्थक हमारे कवि हैं, प्रेम को अपना आधार मान कर चला है। प्रेम की विशेषता है कि वह आधार, आलम्बन चाहता है अतः इस साधना पद्धति में भी उसके रूप को संसार में आरोपित करके भावनाओं को केन्द्रित करना अनिवार्य होता है। प्रेम भी भक्ति की ही भाँति मुक्ति एवं मोक्ष से जीवन को प्रश्रय देता है जिसके कारण उसे अपने प्रिय से प्रेम करने का, अपने आराध्य की भक्ति करने का अवकाश मिलता है। अतः भक्त और प्रेमी की जीवन के प्रति आस्था का होना भी स्वाभाविक ही होता है। वे मुक्ति और निर्वाण को महत्व नहीं देते। वे तो इस जीवन को, विरह को, अपने बन्धनों को ही मुक्ति मानते हैं। जीवन उसकी याद में उस-मय हो जाता है, वे उसकी स्मृति में, आँसुओं के प्रवाह में अपने अहं को घोल देते हैं——

अपनेपन का भार खो चुका, अश्रु-धार के एक ज्वार में॥[1]

और इस अपनेपन के भार के जाते ही वह, वह बन जाता है और उससे मिलन की आनन्दानुभूति करता है (ध्यान में रखने की बात है कि **वह के वह बन जाने** से हमारा आशय यहाँ अद्वैतवाद से नहीं है, यह तो प्रेम-विह्वलता की, भावावेश की वह अवस्था है जहाँ पीड़ा की परिधि अपने आप टूट पड़ती है और वही पीड़ सुखद बन जाती है, और साधक को वह पीड़ अपने प्राणों से भी प्रिय बन जाती है।) कवि के शब्दों में—

आज बन्धन ही बनेंगे मुक्ति के अधिकार मेरे,
क्यों न मुझमें अवतरित होकर रहो स्वरकार! मेरे।[2]

व्यक्त किये गये हैं कि यही जीवन उसका आराधना स्थल है और यह आराधना तो सहज भाव से निरन्तर होती रहती है, जहाँ शरीर के प्रत्येक भाव से पूजा की कोई विधि पूर्ण हो जाती है।

१. आधुनिक कवि भाग ३—पृष्ठ ५५।

२. वही—पृष्ठ ३।
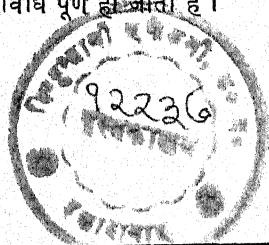
हमारा कवि तो बस अपनी पहचान छिपाए उससे प्रेम किये चला जाना चाहता है। सच्चा प्रेमी प्रेम के बदले में किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा नहीं रखता यहाँ तक कि वह अपने प्रिय पात्र से प्रेम पाने की भी इच्छा नहीं रखता। वह तो इसी में संतुष्ट है कि यह क्या कम महत्व की बात है कि **मैंने तुमसे प्यार किया है**। हमारा कवि उससे अपने सम्बन्ध का परिचय प्रस्तुत करते हुए बताता है कि उसका और उसके प्रिय का सम्बन्ध तो बड़ा ही पुराना और घनिष्ठ है पर वे आज उसे भूल गये हैं और अगर वे कहीं थोड़ा सा भी संकेत भर कर लें तो वह उसे फ़ौरन पहचान लेगा और उसे अपने में लीन कर लेगा या अपना अङ्ग बना लेगा पर इसमें तो वह मिलनानन्द का अवसर खो बैठेगा—

तुम मुझे पहिचान लोगे यदि तुम्हें संकेत भर दूँ ?
तुम हृदय की बात हो तो मैं तुम्हें क्यों कंठ-स्वर दूँ ?[1]

संभवतः इसी से ही कवि ने हृदय की बात को कण्ठ-स्वर नहीं दिया कि हृदय की बात होठों तक पहुँच कर न तो अपनी रहती है और न ही हृदय की रह पाती है, वह जग की बन जाती है। एक कारण और भी हो सकता है कि हमारा कवि भी कविवर रामनरेशजी त्रिपाठी की भाँति मिलन को प्रेम का अन्त मानता हुआ बात को छिपाये हुए रखना चाहता हो ताकि विरह बना रहे, जीवन बना रहे, प्रेम बना रहे—

मैं तुमसे मिल गया प्रिये !
यह है जीवन का अन्त।[2]

---

१. वही—पृष्ठ १७।

२. आधुनिक कवि भाग ३—पृष्ठ ९१—इन पंक्तियों के ही अनुरूप हमें कविवर रामनरेश त्रिपाठीजी की निम्न पंक्तियाँ मिलती हैं—
मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जागृत गति है, और सुषुप्ति मिलन है॥

और वास्तव में सुख के बारे में तो यही कहना अभीष्ट लगता है कि **सुख नहीं पा जाने में, पा जाने के अरमानों में है।** वे आशाएं इतनी सुखद होती हैं कि उन आशाओं के झूले पर हम भी प्रिय से मिलन और बिछोह के झोंके लेते हुए उस आनन्द को अक्षुण्ण बनाए रख सकते हैं और नित्य नयी-नयी कल्पनाएं मानस पटल पर अंकित होती रहती हैं। हमारे कवि के शब्दों में—'**तृप्ति होने पर प्रेम और सौन्दर्य रह कहाँ जाता है?**''[1]

प्रेमी की तो पीड़ ही निराली है जहाँ पीड़ा जीवन और जीवन पीड़ा के पर्यायवाची शब्द से जान पड़ते हैं; ऐसे में अगर हमारा कवि हर्ष और आनन्द को जीवन में आकर ठहरने वाला एकाध दिन के लिए अतिथि मान लेता है और शोक को प्रियतम जो सदा साथ रहकर प्यार करने लगता है, तो अस्वाभाविक ही क्या है :—

हर्ष अतिथि सा ही आकर, रुकता है क्षण दो चार,
किन्तु शोक प्रियतम सा बन कर, करता रहता प्यार।[2]

हमारे कवि को इस नश्वर जीवन ने ही दार्शनिक बनने की प्रेरणा दी है। इस चलती चक्की[3] को देखकर जहाँ महात्मा कबीर जैसा ज्ञानी रो पड़ा, वहाँ हमारे कवि के हृदय में अगर निराशा की भावना भड़क उठी हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है और हम देखते हैं कि किस तरह हमारे कवि का हृदय निराशा से आक्रान्त हो उठता है और वह भी सोचने लगता है :—

---

१. वही—मेरा दृष्टिकोण—पृष्ठ १९–२०।

२. साहित्य शास्त्र—पृष्ठ ५३।

३. चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबित रह्या न कोय॥
—कबीर ग्रन्थावली

क्या है अन्तिम लक्ष्य—
निराशा के पथ का ? अज्ञात ?
दिन को क्यों लपेट देती है
श्याम वस्त्र में रात ?

× × × ×

यही निराशा मय उलझन है
क्या माया का जाल ?
यहाँ लता में लिपटा रहता
छिप कर भीषण व्याल ॥[1]

संसार की हर वस्तु कवि को यही सोचने को विवश करती है कि यह तो मात्र **चार दिनों की चांदनी है फिर अंधेरी रात**। कवि नव वसंत के आगमन को देखकर, उसके पीछे पीछे आने वाली पतझड़ को भी उन रंगों में ही पढ़ लेता है :—

यह नव वसन्त है ? नहीं, यहाँ—
रंगों में छिपकर लगी आग !![2]

और वह महसूस करने लगता है कि **'यह फूल खिला है—बेचारा !! केवल गिरने का ज्ञान लिए'** ॥[3] यहाँ हंसी में रुदन, प्रेम में घृणा, दया में दम्भ और रोष, पुण्य में पाप, छिपा है और विकास का अर्थ है पतन :—

हास्य कहां है ? उसमें भी है रोदन का परिणाम,
प्रेम कहाँ है ? घृणा उसी में करती है विश्राम;

---

१. आधुनिक कवि भाग—३—पृष्ठ ११५ ।

२. वही—पृष्ठ ५० ।

३ वही—पृष्ठ ५१ ।

दया कहां है ? दूषित उसको करता रहता रोष,
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो छिपा हुआ है दोष;
हाय ! धूल बनने को ही, खिलता है फूल अनूप ।
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप ॥[१]

संसार की हर वस्तु की नश्वरता मानव जीवन की नश्वरता को प्रमाणित करती है। इस नश्वर जीवन की नश्वर साँसों द्वारा नश्वर स्वर लहरी में अनश्वर गीत गाने की कल्पना भला कैसे संभव हो सकती है ? हमारे कवि के मन में भी उद्विग्नता जगती है और वह पुकार उठता है :—

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ
आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार में,
कैसे देखूं जीत ?[२]

हमारा कवि सोच में पड़ जाता है कि **'मेरा स्वर नश्वर है, कैसे गीत तुम्हारे गाऊं ?'**[३] किन्तु वस्तुस्थिति यही है कि व्यक्ति हारने के पश्चात्, गिरने के पश्चात् अपनी स्थिति पर गंभीरता पूर्वक सोचने लगता है और उसमें चिन्तन की प्रधानता आ जाती है, वह अपनी हार को अपने गले का हार बनाकर उसको जीवन की प्रधान अनुभूति बनाकर, उसके आलोक में अपने भविष्य को प्रकाशित करने के लिए प्रयत्नशील हो उठता है ताकि फिर उसके जीवन में कोई ऐसा क्षण न आये जो फिर से उसकी पराजय का प्रमाण बन जाये। कविवर प्रसाद के महाकाव्य

---

१. वही—पृष्ठ ११६ । अंतिम पंक्ति को महादेवी वर्माजी की निम्न पंक्तियों के साथ । देखिये :—

वे मुस्काते फूल नहीं, जिनको आता है मुरझाना ।

२. आधुनिक कवि भाग ३—पृष्ठ ११५ । ३. वही—पृष्ठ ४४ ।

'कामायनी' में भी हम इस भाव को स्पष्ट रूप से देखते हैं कि किस प्रकार मनु की चिंता उसमें विचार तत्व को जगाकर उसमें आशा की किरण भर देती है और वह आत्म-चेतना पाकर अपने को पहचानता है, अपनी शक्ति को पहचानने लगता है और जीवनगत संघर्ष से गुजरता आनन्द-प्राप्ति करने में सफल होता है। मानवता के विकास में मनोभावों की स्थिति पर विचार करते हुए हमारा कवि लिखता है—'इस भांति यह देखा जा सकता है कि मानव के प्रथम संस्कारों में एक क्रम है, एक विकास है, चिन्ता जनित कातरता से आगे बढ़कर द्वन्द्व तक पहुँचता है।

चिन्ता	आशा	सहानुभूति	द्वन्द्व
|	|	|	|
कातरता और अतृप्ति	उत्साह और जीवन की पुकार	कामना	विजय की आकांक्षा

कातरता और अतृप्ति का व्यक्त रूप है चिन्ता; उत्साह और जीवन की पुकार का व्यक्त रूप है आशा; कामना का व्यक्त रूप है, सहानुभूति और विजय की आकांक्षा का व्यक्त रूप है, द्वन्द्व। इस भाँति मानस-पटल पर भावों और अनुभावों की यह सृष्टि आदि काल से इस समय तक बराबर चली आयी है।······साहित्य की सृष्टि भी अतृप्ति की चिन्ता-धारा से प्रेरित हो, आशा और सहानुभूति से पुष्ट होती हुई विश्व-विजय की आकांक्षा रखती है।'[1] हमारे कवि ने अपने निराशावाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'मैं रहस्यवाद की निराशा का पोषक हूँ, भौतिकवाद की निराशा का नहीं। विनाश और मृत्यु में मनुष्य का विकास और जीवन है। मृत्यु की सुई अपने पीछे जीवन का धागा लिए हुए है।[2]

---

१. साहित्य शास्त्र—पृष्ठ १०-११।

२. आधुनिक कवि भाग ३—पृष्ठ २० (मेरा दृष्टिकोण)।

डा० शम्भूनाथ पाण्डेय और बाबू गुलाबरायजी अपनी कृति 'रहस्यवाद और हिन्दी कविता' में लिखते हैं कि 'रामकुमार वर्मा भी रहस्यवादी बनने की चेष्टा करने लगते हैं।'[१] किन्तु मेरी अल्प राय में रहस्यवादी बनने की चेष्टा करना कृत्रिमता को अपनाना है, कुछ होते हुए अपने को कुछ बताने का छोछा प्रयत्न करना है। कविता में रहस्य की भावना का समावेश स्वाभाविकता से ही होता है, अस्वाभाविकता एवं कृत्रिमता उसके सारे सौन्दर्य को ही नष्ट कर देती है, उसकी आत्मा को नष्ट कर देती है। वास्तव में हमारी कुछ अनुभूतियाँ ऐसी भी होती हैं, जिनको हम लाख प्रयत्न करने पर भी पूर्ण अभिव्यक्ति देने में समर्थ नहीं होते; पर अनुभूतियों में अभिव्यक्ति की तीव्रता उन्हें मानव मन में दबा रहने भी तो नहीं देती। ऐसे अवसर पर वह विवश होकर समान गुण-धर्म वाली वस्तु के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। अलौकिक, आध्यात्मिक अनुभूति सर्व-साधारण के लिए सहज सम्भव नहीं होती। उस आध्यात्मिक अनुभूति को जब भाव साम्य के माध्यम से कवि या कोई व्यक्ति अन्य के समक्ष प्रकट करता है तो उसमें अस्पष्टता का रहना स्वाभाविक ही होता है। अगर भौतिकता के माध्यम से आध्यात्मिक अनुभूति स्पष्ट अभिव्यक्ति पा सके तो वह आध्यात्मिक अनुभूति हो ही नहीं सकती। वैसे भी मानव मात्र का स्वभाव रहा है कि वह भाव साम्य के लिए अपने आस-पास की वस्तुओं को देखा करता है, इतना ही नहीं, वह अपनी भावनाओं का आरोप प्रकृति पर तो करता ही है, जड़ चेतन को भी अपनी भावनाओं के रङ्ग में रङ्ग कर देखता है। मैं यहाँ पर इतना ही कहूँगा कि हमारा कवि जो इस जीवन की नश्वरता से अभिभूत होकर उसकी शाश्वतता का प्रमाण खोजने लगा

---

१. बाबू गुलाबराय और डा० शम्भूनाथ पाण्डेय—रहस्यवाद और हिन्दी कविता—पृष्ठ ११६।

है, अपने वास्तविक रूप को पहचान कर अपने में और उसमें भाव तथा गुण साम्य देखने लगता है और यह सहज स्वाभाविक भी है। यहाँ जो पिपासा होती है, वह किसी अन्य की नहीं होती पर अपने ही प्रतिबिम्ब की होती है, जिसे हम मायावश नहीं जान पाते; पर उसको जानने के पश्चात् उससे मिलन की बात ही कहाँ उठती है? मिलन तो वहाँ ही सम्भव है, जहाँ द्वैतवाद की भावना हो, पर यहाँ तो वास्तव में अद्वैतमूलक द्वैताभास है। साधक समय आने पर महसूस करने लगता है कि उसे खोजते-खोजते मैं भी वही हो गया हूँ।[1]

हमारा कवि जो आशा की डोर थामे चला ही चलता है, चाहे वह अपने गन्तव्य को पा सके या नहीं, पर आशा का आकर्षण कम लचीला नहीं

---

१. The final goal in each case is the same, the 'Companionless loneliness of self-illumination', the experience of one's own soul as a pure light, utterly independent, autarchic, deathless because beyond time, eternal, and alone. One of the aids to attaining to this vision of one's own true nature is, indeed, Isvara-pranidhana 'meditation on the lord'; but this meditation on the lord does not lead to union with him, but rather it enables the still bound soul to become what the lord always is, an eternal monad wholly independent of matter.—Page-10. Hindu and Muslim Mysticism—By R. C. Zaehner. कबीर की पंक्तियाँ देखिये :—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गयी लाल॥

होता; वह व्यक्ति को अपनी डोर में बाँध कर घसीटता ही जाता है।[1] किन्तु जब वह किसी अन्य गतिशीला को अपने प्रियतम से मिलता देखता है तो उसकी पिपासा और भी तीव्र हो उठती है और वह भी पुकार उठता है :—

वह सरिता है—चली जा रही—
है चंचल अविराम,
थकी हुई लहरों को देते
दोनों तट विश्राम,
मैं भी तो चलता रहता हूँ
निशिदिन आठों याम,
नहीं सुना मेरे भावों ने
'शान्ति-शान्ति' का नाम,
लहरों को अपने अङ्गों में तट कर लेता लीन !
लीन करेगा कौन ? अरे, यह मेरा हृदय मलीन ![2]

इस मिलन की पिपासा ने हमारे कवि के हृदय में अविरल दुःख की भावना को जन्म दे दिया है और वह अपने प्रिय को पाने की आशा लिए उत्सुक आँखों से प्रतीक्षा करता रहा है और आँखें लगने के बाद न लगने की सौगन्ध-सी खाये बैठी प्रतीत होती हैं। सारे विश्व को सुला देने के बाद भी कवयित्री महादेवी जी महसूस करती थीं कि **'सो रहा है विश्व पर प्रिय तारकों में जागता है।'** और हमारा कवि भी शायद इसीलिए नहीं सो पाता कि न जाने—

---

१. आशा में इक आकर्षण है, वह सबको पास बुलाती है।
खुद दूर भागती जाती है, लेकिन मुसकाती जाती है॥
—दशरथराज

२. आधुनिक कवि भाग—३—पृष्ठ ११७।

मुझे सोता हुआ पाकर कहीं तुम लौट न जाओ
इसी कारण नहीं सोता
भरी है नींद नैनों में मगर मैं सो नहीं सकता।[1]

कभी-कभी तो आँखें पथ देखते-देखते पथरा जाती हैं और आँखों के आँसू आँखों में ही सूखने लगते हैं और हृदय चीत्कार कर उठता है :—

भूलकर भी तुम न आये !
आँख के आँसू उमड़ कर,
आँख ही में हैं समाये ॥[2]

होठों से आवाज़ न भी निकले पर मन तो अपनी मूक भाषा में उसे नित्य ही पुकारता रहता है शायद यही सोचकर कि दिल को दिल से रहा होती है और एक दिन हमारी मूक भाषा भी उनके कानों तक पहुँच जायगी या यह सोच न पाने के कारण कि आखिर किस वाणी से सम्बोधित करके उसे पास बुलाऊँ या कौन से स्वर उसे खींच ला सकेंगे :-

पर तुम्हें अब कौन स्वर,
स्वरकार ! मेरे पास लाये ?[3]

इस निराशाजनित अन्धकार में हमारा कवि उसकी अमर किरण (जिसे वह जीवन की अमर किरण कह कर सम्बोधित करता है) की आकांक्षा लिए है :—

मेरे जीवन-नभ के नीचे
जब हो अन्धकार-सागर;
तब तुम धीरे-धीरे से आ
फेनिल-सी सजना सुखकर।
मेरे सुख की किरन अमर ![4]

---

१. दशरथराज। २. आधुनिक कवि भाग–३–पृष्ठ ४९।
३. वही—पृष्ठ ४९। ४. वही—पृष्ठ ९४।

हमारा कवि प्रिय के किरण के समान आगमन की कल्पना से ही पूर्णता व प्रफुल्लता का अनुभव करता है :—

मत कहना मेरा जीवन है निर्जन सा एकान्त
यद्यपि रहता हूँ वियोग से मैं अस्थिर उद्‌भ्रान्त
अब निर्बल हो ओस बिंदु सा पड़ा रहूँगा शान्त
एक किरण सी आ जाना तुम मेरे उर में शान्त
प्रिये, रहुँगा फिर भविष्य जीवन में नहीं अकेला
इस जीवन का खेल बहुत मैं खेला।[1]

ओस कण को अपनी प्रिय किरण की प्रतीक्षा करते समय कुछ समय अन्धकार के आवरण में रहना पड़ता ही है। वह सितारों की टिमटिमाहट में अपने प्रिय की स्मृतियों को जगाता रहता है। किन्तु प्रिय के आगमन के उपरान्त वह उसे पूर्ण समर्पण कर देता है। जीवन में अहं और समर्पण का संघर्ष एक प्रधान संघर्ष है। अहं आत्मा के लिये एक कारा है और इस कारा के बन्धनों में आबद्ध आत्मा मुक्ति के लिये छटपटाती रहती है और अपने मूलभूत गुण व्यापकत्व को प्राप्त करने के लिये अहं की कारा से मुक्त होने के लिये विकल हो उठती है। दूसरी ओर अहंप्रधान व्यक्ति न किसी का बन पाता है और न किसी को अपना ही बना सकता है, वह किसी को अपने व्यक्तित्व से प्रभवित भले ही कर ले। अतः आनन्दानुभूति तो अपने अहं के भार से मुक्त होने में ही है जो आत्मा समर्पण में ही अनुभव करती है और भक्त तथा प्रेमी समर्पण को प्रधानता देते हैं। हमारा कवि भी कहता है :—

अन्धकार का अम्बर पहने
रात बिता दूं सारी

---

१. रूपराशि—पृष्ठ ३१।

दीप नहीं, तारक–प्रकाश में
खोजूं स्मृति–निधि न्यारी
ओस सदृश अवनी पर बिखरा—
कर यह यौवन सारा
किसी किरण के हाथ समर्पित
कर दूँ जीवन प्यारा।
तब तक यह सूखा–सा जीवन रहने दो तुम सूना।
दूर रहो मेरे सुख–दुख की स्मृतियाँ तुम मत छूना।[१]

आज तो हमारा कवि अपना जीवन लेकर आगे बढ़ा है, वह किसी प्रकार अपने प्रिय को तुष्ट करके उससे मिलनानन्द की अनुभूति करना चाहता है :—

यदि कोमल उर शैया पर तुम सो न सके यौवन में।
मैं अपना जीवन लाया हूँ तुम से आज मिलाने।![२]

दु:ख की अनुभूति रखने वाला, जुदाई की जलन का अनुभव करने वाला मिलनानन्द के महत्व से पूर्ण परिचित रहता है और अगर वह विरहाग्नि में जल चुकने के पश्चात् मिलनामृत से अपनी ज्वाला शान्त करने बैठता है तो उसे इतना कहने का तो अधिकार तो प्राप्त हो ही जाता है कि :—

मैं जलन का भाग अपना भोग आया,
तब मिलन का यह मधुर संयोग पाया।।[3]

और हमारा कवि भी मिलनानन्द से बढ़कर किसी अन्य आनन्द को नहीं मानता :—

---

१. अंजलि–पृष्ठ १९।

२. चित्ररेखा–पृष्ठ ३०।

३. बच्चन–मिलन यामिनी।

सुख की राका का केवल है एक मनोरम काल।
आओ प्रेयसि, बैठो यह है प्रेम मिलन की डाल ॥[1]

आखिर प्रतीक्षा-घड़ियों का अन्त आता है, प्रकाश-किरण फूट पड़ती है और कवि गा उठता है :—

यह तुम्हारा हास आया !
इन फटे-से बादलों में कौन-सा मधुमास आया ?[2]

ओस बिंदु में सूर्य किरण का प्रतिबिंब किरण पैदा करता है और वह भी अपने को उसी के अनुरूप पाकर चौंक-सी उठती है और आत्म-ज्ञान से इस निर्णय पर पहुँचती है कि हम दोनों एक दूसरे में प्रतिबिंबित होते हैं :—

मेरे जीवन में एक बार
तुम देखो तो अनुपम स्वरूप;
मैं तुममें प्रतिबिंबित होऊं,
तुम मुझमें होना ओ अनूप।[3]

और हमारा कवि भी अपने को ज्योति–किरण–कण महसूस करने लगता है जो अपने में जलन लिये हुए भी (वास्तव में यही जलन जीवन है क्योंकि ज्योति का जीवन उसके जलने से ही सम्बन्धित है) नव-जीवन का प्रकाश लिये है :—

एक दीपक–किरण–कण हूँ।
धूम्र जिसके क्रोड़ में है,
उस अनल का हाथ हूँ मैं।

---

१. रूपराशि–पृष्ठ ३०।
२. आधुनिक कवि भाग ३–पृष्ठ ७०।
३. वही–पृष्ठ ६३।

नव प्रभा केकर चला हूँ
पर जलन के साथ हूँ मैं ।[१]

हमारा कवि अपने को उसके प्रकाश का वितरक मानने लगता है जिसके द्वारा ही उस असीम का परिचय प्राप्त हो सकता है और वस्तुत: बात पूर्ण सत्य है । कवि के शब्दों में :—

हूँ तुम्हारे आगमन का पूर्व लघु संदेश;
गति रुकी, तो मौन हूँ, गति में अखिल उल्लास ।
मैं तुम्हारे नूपुरों का हास ।।[२]

इस प्रकार डा० रामकुमार बर्माजी की रहस्यभावना अज्ञात, असीम प्रियतम के प्रति गम्भीर प्रणय-वेदना की अनुभूति को लेकर चली है जिसमें चिन्तन का भी योग बना रहा है। स्वप्न और कल्पना के अपार्थिव लोक में विचरण करने वाले हमारे कवि ने भी कविवर पन्त तथा महाप्राण निरालाजी की भाँति मार्क्सवाद से प्रभावित होकर अपनी दिशा बदली थी जिसका परिचय उनकी निम्न पंक्तियों से मिलता है :—

रहस्यवाद का निर्वासन

क्या होगा गाकर अनन्त का नीरव औ' मधुमय सङ्गीत !
मलयानिल की उच्छ्वासों का अस्फुट अनुपम राग पुनीत ।
कनक-रश्मियों के गौरव से होगा क्या दुखियों का त्राण,
रूखी ही रोटी में जिनको है यथार्थ जीवन का प्राण ।
होगा क्या बनवा कर कविते ! तुहिन-बिन्दु की निर्मल माल ।
विस्मृति के असीम सागर में फैलाकर स्वप्नों का जाल ।
—सरस्वती—सन् १९३६, खण्ड ३७, सं० ३

---

१. वही—पृष्ठ ६१ ।
२. वही—पृष्ठ ५९ ।

सम्भवतः कवि के जीवन में रहस्यवाद के निर्वासन का काल कम ही था। कल्पित नित्य ही सत्य से सुंदर रहा है और हमारे कवि ने आरम्भिक जीवन से ही सौन्दर्य के प्रति अनुराग का परिचय दिया है।[1] यह सौन्दर्यानुराग कवि को पुनः रहस्यवादी भावधारा में खींच लाता है और हमें उनकी चन्द्र-किरण, सङ्केत तथा आकाश गङ्गा क्रमशः सन् १९३७, १९३९ तथा १९५७ की रचनाएँ प्राप्त होती हैं जो विशुद्ध रहस्यवादी रचनाएँ हैं। १९५७ में हमारे कवि ने आधुनिक युग की मानवतावादी भावधारा से तथा सम-सामयिक परिस्थितियों के प्रभाव से 'एकलव्य' नामक महाकाव्य भी प्रस्तुत किया है।

एकलव्य महाभारत से लिया हुआ कथानक होने पर भी कवि की मौलिकता और चिन्तन का परिचय देता है। महाभारत में एकलव्य की कथा संक्षिप्त तथा साधारण रूप में केवल ३० श्लोकों में वर्णित है। डा० वर्माजी ने इस कथानक में नवीन उद्भावनाओं द्वारा कथानक में परिवर्तन कर, उसे अधिक व्यापक, प्रभावशाली तथा बुद्धिग्राह्य बनाया है। पुनरुत्थान के युग की विशेष भावधारा से प्रभावित कवि ने उपेक्षित पात्र एकलव्य को अपने महाकाव्य का नायक बनाकर अपने व्यापक दृष्टिकोण, उदारता तथा सामयिक छुआछूत की भावना को एक साथ निबाहने का सफल प्रयत्न किया है। कवि ने जहाँ एक ओर एकलव्य के चरित्र का पुनर्निर्माण किया है, वहाँ दूसरी ओर द्रोणाचार्य के जीवन पर लगे हुए कलंक को भी धोने का सफल प्रयत्न किया है। कवि ने

---

१. "कविता में मुझे कल्पना सबसे अच्छी मालूम होती है। × × कवि में निर्माण करने की शक्ति कल्पना के द्वारा ही आती है। मैं कल्पना का उपासक हूँ, इसीलिए मेरी 'रूपराशि' अधिकतर कल्पना से निर्मित है।"—रूपराशि—भूमिका—पृष्ठ १।

काव्यारम्भ किरातराज भगवान शंकर तथा किरात-कर्मी कवि वाल्मीकि के स्तवन से किया है :—

वाणी दो हे नीलकण्ठ ! हे किरात-कार्मुकी ।
गूँज उठे व्योम, वन, प्रान्त, गिरिकन्दरा ।।
शब्द-वेध की अलक्ष्य लक्ष-लक्ष ध्वनि में ।
नृत्य करे काव्य और काव्य में वसुन्धरा ।।

—एकलव्य-स्तवन १

तथा :—और हे किरात-कार्मुकी आदि कवि वाल्मीकि ।
मेरी दृष्टि में सदा तुम्हारे श्रीचरण हैं ।।

—एकलव्य-स्तवन ४

एकलव्य में कवि ने गुरु-भक्ति के साथ ही मातृ-भक्ति तथा दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति की भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। एकलव्य की गुरु-दक्षिणा के अनुरूप कवि ने बड़ी कुशलता से सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का अंकन किया है। महाभारत के कठोर और संकीर्ण-हृदय द्रोणाचार्य को कवि ने कोमल एवं उदार रूप में प्रस्तुत किया है जो एकलव्य से गुरु-दक्षिणा नहीं माँगता परन्तु एकलव्य स्वयं ही गुरु की प्रतिज्ञा की रक्षा करने के लिए अपना अंगूठा काट लेता है। अर्जुन का चरित्र यहाँ बहुत गिर गया है। महाभारत के उस आदर्श वीर पात्र को कवि ने स्वार्थी तथा राजनीतिकुशल राजकुमार के रूप में प्रस्तुत किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सभी पात्रों का चरित्र-विकास अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। चरित्र-निर्माण में कवि को अद्वितीय सफलता मिली है।

कथानक अत्यन्त छोटा है फिर भी कवि ने बड़ी कुशलता से उसको महाकाव्य का रूप दिया है। कवि ने द्रोणाचार्य के मुख से एकलव्य की

प्रशंसा में ये पंक्तियाँ कहलवाकर सम्भवतः एकलव्य को महाकाव्य के नायकत्व के योग्य बनाने का प्रयत्न किया है :—

गुरूद्रोण चौंक उठे—'यह शिष्य कैसा है !
है तो शूद्र, किन्तु जैसे निष्कलङ्क द्विज है ।
बालक निषाद का है, किन्तु तेजोमय है,
जैसे मणि - रत्न है विशाल विषधर का ।

—पृष्ठ १२५

एकलव्य हर दृष्टि से कवि की एक सफल कला-कृति है । महाकाव्य के छन्द नियम का लेखक ने अवश्य ही उल्लंघन किया है किन्तु वर्तमान युग का स्वच्छन्दवादी दृष्टिकोण रूढ़िवाद को सर्वथा मानकर नहीं चला है । कवि की भाषा इस काव्य में अलङ्कारमयी एवं सशक्त भाषा है ।

'कविता एक दैवी वरदान है जो किसी सुयोग से ही व्यक्ति विशेष को मिलता है'[1] मानने वाला हमारा कवि कविता के लिए प्रतिभा को स्पष्ट रूप में स्वीकार ही नहीं करता उसे अनिवार्य मानता है । किन्तु व्युत्पत्ति के अभाव में मात्र प्रतिभा किसी को कवि बना ही नहीं सकती । अध्ययन, लोकानुभूति और प्रकृति दर्शन जो व्युत्पत्ति के अनिवार्य अंग हैं, कवि को ज्ञान देते हैं, सूक्ष्म दृष्टि देते हैं जिसकी बदौलत ही कवि रवि से भी अधिक गतिशील बन जाता है । हमारे कवि के अध्ययन के विषय में तो प्रश्न उठता ही नहीं, हम जानते हैं कि हमारा कवि एक साथ कवि, उच्चकोटि का समीक्षक, मार्मिक विद्वान और दार्शनिक व्यक्ति है और वह रस वृन्त को काव्य और दर्शन के पुष्पों से ही पूर्ण मानता है, तभी तो काव्य लोकोत्तर आनन्द की, जिसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा जाता है, अनुभूति करा सकता है । कवि के शब्दों में—'काव्य और दर्शन एक ही वृंत के दो फूल हैं और उस वृन्त का नाम है रस, जिसके क्रोड़ में

१. अनुशीलन—पृष्ठ २८ ।

आनन्द का सागर संचित है।'[१] उन्होंने काव्य में अध्ययन और अनुशीलन के पक्ष पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'साधारणत. साहित्य निर्माण में एक व्यापक और विस्तृत दृष्टिकोण की आवश्यकता है, और उसके लिए अध्ययन और अनुशीलन अपेक्षित है।'[२]

जीवन का उद्देश्य ही आनन्द-प्राप्ति है और काव्य जो जीवन की व्याख्या है, उसी उद्देश्यपूर्ति में सहायक होना है, इसी से काव्य के पीछे स्वान्तःसुखाय की भावना का होना अनिवार्य-सा बन गया है और यह उचित भी है। जिसने रचयिता को ही आनन्द नहीं दिया, वह अन्यों को क्या आनन्द दे सकेगा। जिसने आनन्दानुभूति नहीं की वह दूसरों को आनन्दानुभूति क्या करवा सकेगा? वास्तव में कवि और कलाकार अपनी आत्माभिव्यक्ति द्वारा आनन्द प्राप्त करता है और उसी वस्तु को देखकर, साहित्यिक कृति को पढ़कर-सुनकर, दर्शक और पाठक तथा श्रोता के मन में भाव साम्य के द्वारा, वे ही भाव उद्वेलित होकर उसके मन में रस निष्पत्ति करते हैं और वह उसी रस दशा में आ जाता है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टागोर ने कहा था—'भाव को अपना बनाकर सबका बना देना, यही साहित्य है, यही ललित कला है।'[३] किन्तु आज के युग में जहाँ कविता और कला व्यवसाय बनती जा रही है, हमारे कवि को दुःख होता है—'आज जब लेखकों की साहित्य-साधना ने व्यवसाय का रूप ले लिया है और आर्थिक दृष्टिकोण से कला और साहित्य की जाँच-पड़ताल होने लगी है तो लेखक स्वान्तःसुखाय के स्वप्न-मन्दिर से निकल कर वस्तुवाद की मरुभूमि पर खड़ा हो गया है और आर्थिक लाभ के लिए अपने साहित्य को क्रय-विक्रय की वस्तु समझने लगा है।'[४]

---

१. वही–पृष्ठ ४१। २. विचार दर्शन–पृष्ठ १४२।
३. साहित्य–अनुवादक पं० वंशीधर विद्यालंकार–पृष्ठ १२।
४. विचार दर्शन–पृष्ठ १२८।

सौन्दर्य चित्ताकर्षक होता है किन्तु जहाँ सुन्दर में आनन्ददायी शक्ति आ जाती है, कविता का जन्म होता है, इसीलिए ही हमारा कवि साहित्य को लिखित और अलिखित दोनों रूपों में स्वीकार करता हुआ कहता है—'साहित्य के लिखित और अलिखित दोनों रूपों में मानव-जीवन अपनी सहज अभिव्यक्ति में मनोविज्ञान या रस के आश्रय से प्रस्फुटित होता है।'[१] और इसके लिए—'सौन्दर्य में इस आनन्द का प्रादुर्भाव करना ही कविता का चरम आदर्श है।'[२]

हमारा कवि काव्य के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए विशेषकर अपने काव्य के विषय में कहता है—'मेरे काव्य का उद्देश्य मन के बोझ को हलका करने के अलावा जीवन के परिष्करण और उसके गतिशील होने में है।'[३] मन के बोझ को हलका करने के लिए फिर वही काव्य में आनन्द तत्व की प्रधानता पर प्रकाश डालता है तो दूसरी ओर काव्य के माध्यम से जीवन को गतिविधि देने की बात है जिसे हमारे कवि ने पौरुष के रूप में प्रस्तुत किया है—'साहित्य के माध्यम से आनेवाली नवीन चेतना दो रूपों में हमें प्राप्त होती है, पहला रूप 'आनन्द' है और दूसरा 'पौरुष' है।'[४] इस नवीन चेतना से हमारे सामने कवि की कवित्व-शक्ति अथवा कल्पना-शक्ति जिसके माध्यम से वह भविष्य के सैकड़ों हज़ारों वर्षों को मुखरित करता है,[५] का परिचय मिलता है। कल्पना के बारे में लोगों की कुछ ऐसी धारणा भी प्रतीत होती है कि वह बिल्कुल

---

१. साहित्य शास्त्र—पृष्ठ १०९।

२. आधुनिक कवि भाग ३—मेरा दृष्टिकोण—१०।

३. विचार दर्शन—पृष्ठ १२०।   ४. साहित्य शास्त्र—पृष्ठ ३३।

५, कविवर सुमित्रानन्दन पंत के अनुसार—

युग सत्य शब्द, युग रूप शब्द, युग कर्म शब्द,
शाब्दिक कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द।

झूठ है और साहित्य जो सत्य की साधना है, कहां तक कल्पना का आधार ले ? किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि कल्पना निराधार नहीं होती, कल्पना व्यक्ति की अनुभूति पर हो अवलंबित होती है, व्यक्ति का अनुभूति क्षेत्र जितना व्यापक होता है, उसकी कल्पना शक्ति भी उतनी सजीव और सजग होती है। कल्पना वास्तव में सौन्दर्य राशि के विकीर्ण कणों के एकीकरण का ही नाम है जिसके माध्यम से कलाकर अपनी प्रतिभा से विश्व में बिखरी सौन्दर्य राशि को समन्वय के द्वारा एक-रूपता प्रदान कर उसे लौकिक होते हुए भी लोकोत्तर बना देता है।[१]

हमारे कवि ने अपने काव्य में कल्पना पक्ष पर स्वयं विशेष प्रकाश डाला है। हम उनके ही शब्दों में यहाँ उनके काव्य में कल्पना पक्ष का अवलोकन करेंगे। 'कविता में मुझे कल्पना सब से अच्छी मालूम होती है।.........कवि में निर्माण करने की शक्ति कल्पना के द्वारा ही आती है। मैं कल्पना का उपासक हूँ, इसी लिये मेरी 'रूपराशि' अधिकतर कल्पना से निर्मित है।'[२] और भी—'कल्पना साहित्य की सृजन–शक्ति है। जिस प्रकार ब्रह्म माया के माध्यम से अखिल विश्व की सृष्टि करता है, उसी प्रकार प्रतिभा-सम्पन्न लेखक या कवि कल्पना के सहारे साहित्य में सौन्दर्य की सृष्टि करता है।'[३] हमारे कवि ने भी कल्पना को अनुभूति पर ही अवलंबित माना है—'कल्पना के लिये जीवन की अधिक से अधिक प्रत्यक्षानुभूति अपेक्षित है। इस अनुभूति के आश्रय से वह ऐसी परिस्थितियों की कल्पना कर सकता है, जो भले ही प्रत्यक्ष जगत् में न हों, किन्तु

---

१. Imagination : It combines, and by combination creates new forms.—R. A. Scott—James Making of Literature—Page 286.

२. रूपराशि–भूमिका–पृष्ठ १। ३. साहित्य शास्त्र–पृष्ठ ६२।

उनके अस्तित्व में सत्य का वैसा ही आधार हो जैसा प्रत्यक्ष जगत् में है। इस प्रकार कल्पना और व्यापक सत्य का साहचर्य नितान्त अनिवार्य है।[1]

वास्तव में सत्य का सौन्दर्य कल्पना के बीच में ही निखरता है और सत्य अपनी कटुता खोकर ग्राह्य बनता है। हमारा कवि मानता है कि उसने कल्पना को सत्य को सजाने वाले सेवक के रूप में ही सहयोगी बनाया है—'कल्पना के बीच में सत्य का सौन्दर्य और भी मर्मस्पर्शी तथा हृदयद्रावक हो जाता है। इसलिए सत्य के रूप को विकृत करने के लिये नहीं, वरन् सत्य को सजाने के लिये मैंने कल्पना को सेवक की भाँति बुला लिया है।'[2] कवि की इस उक्ति—'जीवन से अलग हटी हुई कविता साहित्य की सबसे बड़ी निर्लज्जता है।'[3] का अभिप्राय यह नहीं लेना चाहिये कि हमारा कवि साहित्य में कोरे यथार्थ का पक्षपाती है। भले ही वह अपने उत्तरकालीन साहित्य में कल्पना पर अनुभूति को प्रश्रय देता रहा हो—'मैं पहले कल्पना का उपासक था। मेरी रूपराशि तो अधिकतर कल्पना से ही निर्मित है। पर अब अनुभूति मुझे कल्पना से अधिक रुचिकर है।'[4] तथा—'कविता में प्राण तो केवल अनुभूति ही भरती है।........कल्पना यद्यपि कविता में नए-नए संसार की सृष्टि करती है, तथापि वह अनुभूति का स्थान नहीं ले सकती। उससे भावना में तीव्रता तो अवश्य आ जाती है किन्तु वह कविता में स्पंदन नहीं ला सकती।'[5]

---

१. साहित्यशास्त्र—पृष्ठ ६२।
२. चित्तौड़ की चिता—परिचय—पृष्ठ २।
३. आधुनिक कवि भाग ३—मेरा दृष्टिकोण—पृष्ठ ७।
४. चित्ररेखा—पृष्ठ ८४।
५. विचार दर्शन—पृष्ठ १२०-१२१।

किन्तु उनकी कविता में कल्पना पक्ष का बड़ा ही अनूठापन है जिसने उनकी कविता को निर्बल करने की अपेक्षा, सबल ही बनाया है क्योंकि अनुभूति केवल प्रत्यक्ष ही होती है, सो बात नहीं, काल्पनिक अनुभूति भी साहित्य में तथा जीवन में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है, जितना वास्तविक अनुभूति ।

साहित्य वैयक्तिक साधना है, उसमें केवल बाह्य जगत् का चित्रण होता है, सो बात नहीं, उसमें बाह्य पक्ष की अपेक्षा आन्तरिक पक्ष की प्रधानता होती है क्योंकि कविता वास्तव में अन्तःकरण की वृत्तियों का चित्रण ही तो है । हमारा कवि भी तो कविता के विषय में कहता है—'आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है ।'[1] अतः काव्य या साहित्य में वस्तुगत दृष्टिकोण पर विषयीगत दृष्टिकोण को प्रश्रय मिलता है । भावों में अभिव्यक्ति की तीव्रता होती है अतः वे हृदय का बाँध तोड़कर शब्दों के माध्यम से अथवा अन्य माध्यम से फूट पड़ते हैं और—**विवश फूटते गान कण्ठ से**—की उक्ति को चरितार्थ करते हैं, जिनमें वेग के साथ स्पष्टता और निश्छलता के गुण होते हैं । कविता सप्रयास नहीं होती । इसीसे ही हमारा कवि परिश्रम से लिखी कविता को घास काटने की क्रिया मानता रहा है ।[2]

हमारा कवि गीतकार ही अधिक रहा है और उसने गीतों के अनेक गुणों में भावना की एकरूपता, अनुभूति की तीव्रता तथा मधुर संगीत का होना अनिवार्य माना है ।[3] गीति-रचना के विषय में हमारे कवि की यह पंक्ति भी द्रष्टव्य है—'यदि गीति काव्य लिखा जावे तो वह ऐसा हो

१. आधुनिक कवि भाग ३—मेरा दृष्टिकोण—पृष्ठ ९ ।

२. विचार दर्शन—पृष्ठ ९५ ।

३. एकलव्य—भूमिका—पृष्ठ ६ ।

जिसमें जीवन के अन्तरतम भाग की मूर्त अभिव्यक्ति हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सामंजस्य रखती हुई प्रकट की जावे। इस अभिव्यक्ति में आशावाद की प्रखर ज्योति होनी चाहिये।'[१] वास्तव में गीतों के सृजन में आशा की अपेक्षा निराशा का महत्वपूर्ण हाथ रहा है, हमारा कवि गीतों में आशावाद को प्रधानता देता हुआ एक बार पुनः अपनी कविता की ओर ही हमें आकर्षित करना चाहता है कि वह जीवन में आशा का संचार करे और आशा ही जीवन की गति है। इसके पीछे भावनाओं के तीव्र चित्रण की आवश्यकता है। भावों के समान संप्रेषणीय और कुछ नहीं। हमारे कवि के शब्दों में—'कविता कवि-विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना तीव्र है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत हो जाती हैं।'[२]

हमने संक्षेप में कवि के निजी दृष्टिकोण के साथ ही उनके काव्य का मूल्यांकन किया है। जो भी हो हमारे कवि की कविता में कल्पना पक्ष की अनुभूति पक्ष की अपेक्षा अधिक प्रधानता रही है और उन्होंने रहस्यवादी कविता के साथ ही राष्ट्रीय भावना प्रधान रचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं—चित्तौड़ की चिता, जौहर, वीर हमीर और वे मानते भी रहे हैं कि—'वर्तमान समय में देश-भक्ति-संबंधी कविताओं की ही रचना होनी चाहिये।'[३] 'निशीथ' खण्डकाव्य में लौकिक प्रेम के विप्रलंभ पक्ष का मर्मस्पर्शी अंकन हुआ है हालां कि हमारे कवि का यह दावा रहा है कि—'मैं भौतिक श्रृङ्गार की कोई कविता नहीं लिख सका या जीवन की उन बातों पर प्रकाश नहीं डाल सका जो पार्थिव जीवन के क्रोड़ में अपनी दैनिक गति से घटित होती रहती हैं।'[४] पर यह भी संभव है कि निशीथ

---

१. विचार दर्शन—पृष्ठ ११२।   २. साहित्य समालोचना—पृष्ठ ७।

३. वही—पृष्ठ ३०।

४. आधुनिक कवि भाग ३—मेरा दृष्टिकोण—पृष्ठ ७।

का लौकिक प्रेम सूफ़ी परम्परानुकूल सांकेतिक हो। हमारे कवि की कविताओं में प्रीति के ही समान नीति को भी स्थान मिला है और वे तो मानते ही रहे हैं—'प्राचीन साहित्य नीति-सम्मत होने के कारण आज भी जीवन का पथ-प्रदर्शक है। अतः साहित्य में नीति का अङ्ग उसके जीवित रहने का एक अवलम्ब माना जा सकता है।'[१] और हमारे कवि ने भी अपने काव्य को स्थायित्व देने के लिये इस अवलम्ब को पकड़े रखना अनिवार्य-सा माना है। उनकी आकाश गंगा और एकलव्य में नीति पक्ष को लेकर कुछ सुन्दर कविताएँ हुई हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में करुण रस की प्रधानता बतायी है और वह पक्ष उनके काव्य के अन्य पक्षों की अपेक्षा अधिक सबल रहा है जिस पर हम इससे पूर्व विचार कर आये हैं। उनकी इन पंक्तियों के साथ ही हम इस लेख को समाप्त करेंगे :—

तुम हो सांस सी सुखकर, नभ मण्डल है एक शरीर।
यह पृथ्वी मधुमय यौवन है, तुम हो उस यौवन की पीर॥

१. साहित्य शास्त्र—पृष्ठ ४५।

अञ्जलि

(१९२९)
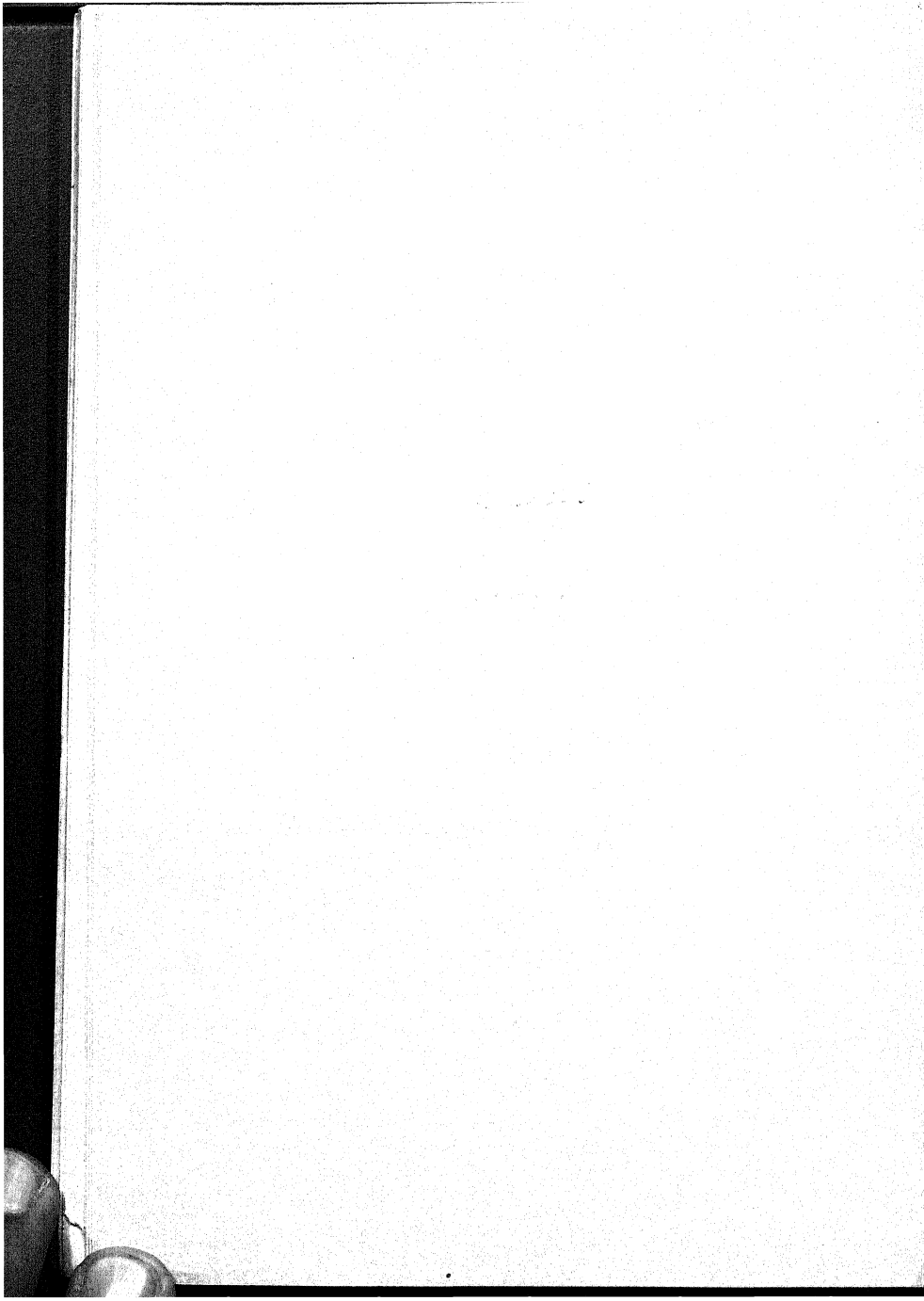
प्रार्थना

फूलों की अधखुली आँख !
मार्ग देख मेरे प्रियतम का,
देख देख नीला आकाश।
जब तक वे न यहाँ आवें,
खुलने का मत कर व्यर्थ प्रयास ।।

सागर की गतिवती तरङ्ग !
ले उसाँस मत, तट पर जाकर,
चुप हो जा ओ चञ्चल बाल !
मेरे प्रियतम के आने की,
ध्वनि से देना अपनी ताल ।।

ओसों के बिखरे वैभव !
फैले हो अवनी पर, शासन—
करने का यह अनुपम ढङ्ग।
तुम से भी तो कोमल है,
मेरे प्रियतम का उज्ज्वल अङ्ग ।।

मत उड़ना ए, अश्रु-बिन्दु बन
करना उन फूलों में वास।
मेरा अनुपम धन आवे,
जब तक इस निर्धन मन के पास॥
तरुवर के ओ पीले पात!
मत गिरना, मेरे प्रियतम को,
तो आ जाने दो इस बार।
आने पर उनके चरणों पर,
गिरकर हो जाना बलिहार॥
ओ समीर के मन्दोच्छ्वास!
फूलों की प्याली में तब तक,
मत भरना छबि-सुधा अपार।
जब तक प्रियतम की पद-ध्वनियाँ,
पहुँच न जावें मेरे द्वार॥
जल-कुबेर ए काले मेघ!
प्रिय की विरह-ज्वाल दिखलाकर,
क्यों बरसाते हो जल-धार?
वसुधा के वैभव ही में तो,
करते हो अपना विस्तार॥
तब तक मौन रहो जब तक,
मेरे आँसू का पारावार।
मिल जावे तुम से करने को,
प्रियतम के पद का शृङ्गार॥

ओ मेरी तन्त्री के नाद !
मत गूंजो, मेरी उँगली से,
मत बोलो ओ प्राणाधार !
मेरे मन में बस जाने दो,
पहले मेरा प्रिय स्वरकार ।।

ये गजरे तारों वाले

इस सोते संसार बीच,
जगकर सजकर रजनी बाले !
कहाँ बेचने ले जाती हो,
ये गजरे तारों वाले ?
मोल करेगा कौन,
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी ।
मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी ।।
निर्झर के निर्मल जल में,
ये गजरे हिला-हिला धोना ।
लहर हहरकर यदि चूमे तो,
किञ्चित विचलित मत होना ।।
होने दो प्रतिबिम्ब विचुम्बित,
लहरों ही में लहराना

'लो मेरे तारों के गजरे',
निर्झर-स्वर में यह गाना ॥
यदि प्रभात तक कोई आकर,
तुम से हाय, न मोल करे।
तो फूलों पर ओस-रूप में,
बिखरा देना सब गजरे ॥

एकान्त गान

अरे निर्जन वन के निर्मल निर्झर !
इस एकान्त प्रान्त-प्राङ्गण में
किसे सुनाते सुमधुर स्वर ?
अरे निर्जन वन के निर्मल निर्झर !
अपना ऊँचा स्थान त्यागकर,
क्यों करते हो अधःपतन ?
कौन तुम्हारा वह प्रेमी है,
जिसे खोजते हो वन-वन ?
विरह-व्यथा में अश्रु बहाकर,
जल मय कर डाला सब तन !
क्या धोने को चले स्वयं,
अविदित प्रेमी के पद-रज-कन ?
लघु पाषाणों के टुकड़े भी,
तुमको देते हैं ठोकर !

क्षण भर ही विचलित होकर,
कम्पित होते हो गति खोकर।

लघु लहरों के कम्पित कर से,
करते उत्सुक आलिंगन।

कौन तुम्हें पथ बतलाता है,
मौन खड़े हैं सब तरुगन ?

अविचल चल, जल का छल-छल,
गिरि पर गिर-गिरकर कल-कल स्वर।

पल-पल में प्रेमी के मन में,
गूँजे ए कातर निर्झर !

ओ समीर, प्रातः समीर

ओ समीर, प्रातः समीर !

मेरे पल्लव सोते हैं,
टूटे न शान्त स्वप्नों का तार।

या तो धीरे-से आओ,
या रहो दूर, देखो उस पार॥

सरल सुमन-शिशुओं ने तेरी,
आहट से दीं आँखें खोल।

यह सौन्दर्य-सुधा छलकाकर,
घटा दिया क्यों उसका मोल ?
ओ समीर, निष्ठुर समीर !

कलियों को मत छुओ,
बालिकाएँ हैं, सरला हैं, अनजान ।
गाना मत उनके समीप,
उन्मत्त अरे, यौवन के गान ॥

असम तुम्हारा है प्रवाह,
ध्वनि-पद से करते व्योम-विहार ।
या तो धीरे से आओ,
या रहो दूर देखो उस पार ॥
ओ समीर, मादक समीर !

किसका शिशुपन चुरा-चुराकर,
भरते हो ओसों में आज ?
किसकी लाली छीन कर रहे,
उषा-प्रेयसि का यह साज ?
अरे, एक झोंके में ही क्यों,
उड़ा दिए सब तारक-फूल !
मेरे स्वप्नों में क्यों भर दी,
मेरे जागृतपन की धूल ?
ओ समीर, पागल समीर !

अन्तिम संसार

तरुवर के ओ पीले पात !
किस आशा से तन्तु सम्हाले रहते हैं दिन रात ?
रात हो या कि प्रभात।
पतले एक हाथ से पकड़े हो तरुवर का गात।

अन्य तुम्हारे स्वजन,
हरे रङ्गों का ले परिधान।
हँसते हैं पीलेपन पर क्या,
मर मर मर कर गान ?

सुनते हो चुपचाप,
अन्य पत्तों का यह अभिशाप।
उनका है आनन्द तुम्हारा
यह विषमय संताप॥

गिर जाना भू पर,
समीर में हिल-डुल कर इस बार।
दिखला देना पत्तों को,
उनका अन्तिम संसार॥

शिशिर

समय की शीतल साँस !
शिशिर ! तुम्हारे जीवन का
पहिला दिन, पहिली रात ।
उसी समय तुमने छीने
जीवन-तरुवर के पात,
हँसते हो, छूते हो जग के
सब सूखे कंकाल;
शिशुपन की क्रीड़ा में
जीवन का यह रूप कराल !
वृद्ध सो रहा है,
तेरा ही स्वप्न रहा है देख,
तीन पंक्तियों में मस्तक पर
है जीवन का लेख,
वह आशा जो जर्जरपन में
ले माया का रूप,
कङ्कालों से हँसती रहती
तेरे ही अनुरूप,
तेरा जीवन है जग के
फूलों का जीवन-नाश,
तेरी क्रीड़ा के कारण ही
शून्य हुआ आकाश,

मेरा जीवन तो तुझ से भी
शीतल है ओ क्रूर!
क्यों रहता है फिर उससे तू
डर कर इतनी दूर
जीवन-सुख है वर्षा की
सरिता का वारि-विलास
उठ कर पत्थर से ठोकर
खाकर करता उपहास
उस सुख से तेरे दुख में
मिलती है अधिक मिठास
तुझ में ही मेरा बसन्त है
तुझ में अमर विलास
समय की शीतल साँस

संगीत

गगन में गूँजो गर्वित गान
किस बाला के अधरों को छू
पा समीर की गोद
धीरे धीरे हिलते आए
और लुटाते मोद
किन श्वासों में जाग

कंठ को धीरे धीरे त्याग
लेकर अपने साथ ओंठ का
परिमल मधुमय राग
किया है किस मदिरा का पान ?
क्या यौवन की मदिरा पीकर
पा कर शक्ति अपार
मृग नयनी के नयनों में
चुपचाप बने साकार
अधर-द्वार को खोल
प्रतीक्षाकांक्षित पाकर वायु
गिरे जगत में मैली करने
अपनी कोमल आयु
अभी तो हो भोले नादान
मधुऋतु में कोकिल करती थी
बौरों का आह्वान
वहीं तुम्हारा जन्म हुआ था
वहीं हुआ अवसान
हिला हिला कर पल्लव को
डूबे प्रतिध्वनि में आह
एक वेदना छोड़ गये
ले चञ्चल वायु प्रवाह
तुम्हें इसका होगा क्या ज्ञान

बाल चन्द्र की शैशव किरणों
का था क्रीड़ा काल
वहां प्रसूनों ने गूँथी थी
बिखरी अलि की माल
और वहाँ बिखराया था अपना
सब सौरभ भार
कलियों ने अपने रंगों से
किया लिपट कर प्यार
याद है क्या तुम को वह स्थान ?
प्रकृति-जननि ने गूँथा था
हरियाली का मृदु जाल
कैदी बन कर खेल रहे थे
कुछ बिहगों के बाल
उनके कंठों में सोये थे
जग कर तुम सुकुमार
शिशु समीर की हृद् धड़कन में
गूँजे थे उस बार
तुम्हें गाऊँ, आओ हे गान !

तिरस्कार

क्या कहते हो, एक शक्ति से शासित है संसार !
उसको तुम कहते हो ईश्वर निराकार साकार
विश्व नाचता है जब भरता है स्वर वह स्वरकार
आदि अंत थक गये देखकर उसका बल विस्तार
प्रकृति अनुचरी सदा समर्पित करती मधु-ऋतु फूल
गूँथ रही सरिता तरंग माला अपने ही कूल

क्या कहते हो एक शक्ति से शासित है संसार !
कितनी है यह भूल, सोचना है यह घृणित विचार
एक शक्ति, ओः एक शक्ति, उसका क्या है अधिकार ?
अपने मन की इच्छा से ही निर्मित है संसार
मेरे दुख में बनता है जग कितना रौद्राकार !
मेरे सुख में करने आता अपना ओछा प्यार !

अपने कार्यों में पाता हूँ मैं अपना ही रूप
बनता हूँ मैं रंक स्वयं बनता हूँ मैं ही भूप
यहाँ कौन निर्णय करता है होता किसका न्याय
मेरा है सत्कार्य और मेरा है कठिन उपाय
मैं ही निज अस्तित्व-तत्व का निर्माता स्वाधीन
ओ संसार, बना है क्यों तू ईश्वर के आधीन ?

कैसे मानूँ एक शक्ति पर आश्रित है संसार
यहाँ प्रेम से मिलती निष्ठुरता की कलुषित धार

नेत्र-विहीनों के सम्मुख है मृग नयनी सुकुमार
अन्धकार में पुष्प राशि की एक विभूति अपार

सागर में रत्नों का वैभव है जलचर के पास
कीटों के ही लिए बना है पुष्पों का अधिवास

उज्ज्वल तारों का मिटना कहलाता प्रातःकाल
बादल का जल उठने को कहते हैं विद्युत् माल
होता है जल पतित उसे कहते हैं सुखद फुहार
सरस सुमन का हृदय बेधना कहलाता है हार

इसी विषमता में है क्या ईश्वरता का विस्तार
ओ संसार, न कर ऐसा ईश्वरता से तू प्यार

× × × ×

मैं ही अपना जीवन-पट रँगता हूँ विविध प्रकार
यहाँ कौन है निराकार, है कौन यहाँ साकार !

परिचय

मेरी गति है वहाँ जहाँ पर करुणा का है नाम नहीं
मैं रहता हूँ वहाँ जहाँ रहने का कोई धाम नहीं
मेरे कार्यों का होता है कोई भी परिणाम नहीं
मेरे ब्रज में गोप नहीं, गोपियाँ नहीं, घनश्याम नहीं

मैं जाता हूँ कहाँ, इसी का मुझको बिलकुल ज्ञान नहीं
मुझे छोड़ कर अन्य किसी से मेरी है पहिचान नहीं

सूक्ष्म और अन्तर्यामिन् का मुझ में होता है अवतार
मूर्ति कहाँ है विभव व्यूह का सजा रहा हूँ मैं संसार
जाग रहा है चित्, सोता है अचित् प्रकृति बन बारम्बार
आता कौन, कौन जाता है सृष्टि-महासागर के पार

बद्ध मुक्त से सजा रहा हूँ चित् का मैं अस्तित्व अनन्त
सत रज तमकी वृत्ति चली जाती है महा-प्रलय पर्यन्त

परिवर्तन की चाल ! एक कण घूम घूम कर सौ सौ बार
बना रहा है प्रलय, विश्व के बना रहा अगणित संसार
रात्रि और दिन के परदों पर खेल रहा जीवन बन व्यस्त
अन्धकार के काल-सर्प जब ढक लेते हैं विश्व समस्त

और सर्प दंशित सम जग जब हो जाता है तमसाकार
मैं जाता हूँ पुरुष-रूप से करने महा प्रकृति से प्यार

× × × ×

कैसा है वह प्यार ! वासना का उसमें विस्तार नहीं
क्रीड़ास्थल है महा विश्व, यह छोटा-सा संसार नहीं

विराट रूप

मेरी जीवन-तंत्री में कितनी आहों के तार लगे।
मेरे रोम रोम में कितने ही दुख के संसार लगे।
मेरा अंतर् बहिर् प्रकृति में प्रबल हार के हार लगे।
मेरे जीवन नभ को दुख-दामिनि के चपल प्रहार लगे

ज्ञान-कोष में आँसू के कितने ही हैं भंडार लगे
मेरे मानस में छल करने वाले कितने प्यार लगे !

मेरे हँसने से ही शशि-किरणों का उज्ज्वल हास हुआ
मेरे आँसू की संख्या से तारों का उपहास हुआ
मेरे दुख के अन्धकार से रजनी का शृङ्गार हुआ
मेरे बिखरे भावों से बिखरा-सा यह संसार हुआ

मेरे सुख से ही जग में सुख का है कुछ आभास हुआ
मेरे जीवन से ही मानव-जीवन का इतिहास हुआ

जीर्ण गृह

लिए कितनी स्मृतियों का कोष
भिखारी-सा जर्जर तन भार
खड़े हो ओ मेरे गृह आज !
किसे करने को भूला प्यार !
सुलाए कितने वर्ष अतीत
गोद में खड़े हुए दिन रात
बुलाए वातायन से नित्य
झांकने वाले बाल-प्रभात
रात की काली चादर ओढ़
निकलते थे तारे चुपचाप
देखते थे वे चारों ओर
भयानक अन्धकार का पाप

देखते थे तुम भी उस काल
हृदय में कर सुस्नेह प्रकाश
दीप्तिमय छिद्र नेत्र-से अचल
उन्हीं नक्षत्रों का आकाश

तुम्हारे लघु छिद्रों के नैन
जानता था कब मैं उस काल
प्रकाशित होंगे कभी न हाय!
उठेंगे जब ये तारे-बाल

एक छाया ही का आतंक
बढ़ेगा तुम पर ऐसा आह!
निकल जावेगा तुम पर मूक
रात्रि दिन का अविराम प्रवाह

आह, वे स्मृतियाँ कितना उग्र,
कहाँ है, कहाँ, कहाँ, किस ओर!
यहाँ कैसा था रजनी काल
और कैसा तम था, उफ, घोर!

और मेरी माँ का संसार
हिल रहा था जब पल प्रति पल
नेत्र की उज्ज्वलता में सिमिट
गया था अन्धकार अविचल

आँख की पुतली पल में कभी
भूल जाती थी अपनी चाल

देखते थे उसको चुपचाप
प्यार के पाले भोले बाल
शुष्क ओठों का अविदित बोल
चुरा ले गई पापिनी वायु
ओस की बूँदों-सी उड़ चली
फूल से तन में बैठी आयु

आँख धीरे धीरे थी खुली
दृष्टि निर्बल पहुँची सब ओर
और पुतली ने धीरे छुआ
बुझी आँखों का सूखा छोर

उसी क्षण उज्ज्वल दीप-प्रकाश
हो गया पल पल अधिक मलीन
अन्त में संध्या-सा बन कहीं
हो गया अन्धकार में लीन

आज भी वह स्मृति ले चुपचाप
रखे हो अपना अवनत भार
यही तो है जीवन की हार
यही तो दो दिन का संसार

यही तो दो दिन का संसार
खिलाता है कितने ही फूल

और दो दिन के भूखे भ्रमर
झूलते हैं अपनापन भूल
तुम्हारा सुंदर उपवन और
तुम्हारा सुंदर रूप विशाल
आज है देख रहा संसार
तुम्हें रोगी का नत कंकाल

वायु आ कर छू जाता शीघ्र
देखते हो तुम उसका व्यंग
कभी सौरभ भारों से थका
सदा लिपटा रहता था अंग

बने हो अब अतीत से विन्दु
बने हो अवनी पर निरुपाय
बने स्थिर, सकरुण स्वप्नाकार
लिए अपना अविदित अभिप्राय

न गिरना, मत गिरना ए सुनो !
सुरक्षित रखना अपना द्वार
कभी आऊँगा फिर इस ओर
आँख में भर आँसू दो चार

अभिशाप

(१९३०)

१

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ,
आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार में,
कैसे देखूँ जीत ?

उषा अभी सुकुमारः क्षणों में—
होगी वही सतेज,
लता बनेगी ओस-बिन्दु की
सरल मृत्यु की सेज,

कह सकता है कौन, देखता हूँ मैं भी चुपचाप।
किसका गायन बने न जाने मेरे प्रति अभिशाप !

क्या है अन्तिम लक्ष्य—
निराशा के पथ का ?—अज्ञात !
दिन को क्यों लपेट देती है
श्याम वस्त्र में रात ?

और, काँच के टुकड़े बिखरा—
कर क्यों पथ के बीच,
भूले हुए पथिक-शशि को दुख—
देता है नभ नीच ?

यही निराशामय उलझन है क्या माया का जाल ?
यहाँ लता में लिपटा रहता छिपकर भीषण व्याल।

देख रहा हूँ बहुत दूर पर,
शान्ति-रश्मि की रेख,
उस प्रकाश से मैं अशान्ति-तम—
ही सकता हूँ देख,

काँप रही स्वर-अनिल-लहर
रह-रहकर अधिक सरोष,
डरकर निरपराध मन अपने—
ही को देता दोष !

कैसा है अन्याय ? न्याय का स्वप्न देखना पाप !
मेरा ही आनन्द बन रहा, मेरा ही सन्ताप !

हास्य कहाँ है ? उसमें भी है,
रोदन का परिणाम,
प्रेम कहाँ है ? घृणा उसी में
करती है विश्राम,

दया कहाँ है ? दूषित उसको—
करता रहता रोष,
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो—
छिपा हुआ है दोष,

धूल हाय ! बनने ही को, खिलता है फूल अनूप !
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप !

मेरे दुख में प्रकृति न देती
क्षण भर मेरा साथ,
उठा शून्य में रह जाता है
मेरा भिक्षुक-हाथ,
मेरे निकट शिलाएँ, पाकर
मेरे श्वास-प्रवाह,
बड़ी देर तक गुञ्जित करती—
रहतीं मेरी आह,

'मर-मर' शब्दों में हँसकर, पत्ते हो जाते मौन।
भूल रहा हूँ स्वयं, इस समय मैं हूँ जग में कौन ?

वह सरिता है—चली जा रही—
है चंचल अविराम,
थकी हुई लहरों को देते
दोनों तट विश्राम,
मैं भी तो चलता रहता हूँ
निशिदिन आठों याम,
नहीं सुना मेरे भावों ने
'शान्ति-शान्ति' का नाम,

लहरों को अपने अङ्कों में तट कर लेता लीन !
लीन करेगा कौन ? अरे, यह मेरा हृदय मलीन !

२

क्या शरीर है ? शुष्क धूल का—
थोड़ा-सा छवि जाल,
उस छवि में ही छिपा हुआ है
वह भीषण कङ्काल,
उस पर इतना गर्व ? अरे,
इतने गौरव का गान,
थोड़ी-सी मदिरा है उस पर,
सीखा है बलिदान ?

मदमाती आँखोंवाले, ओ ? ठहर, अरे नादान !
एक-फूल की माला है उस पर इतना अभिमान ?

इस यौवन के इन्द्र-धनुष में
भरा वासना-रङ्ग,
काले बादल की छाया में,
सजता है यह ढंग,
और उमंगों में भूला है
बनकर एक उमंग;
एक टूटता-स्वप्न आँख में
कहता उसे 'अनंग'—

वह 'अनङ्ग' जो धूल-कणों में भरता है उन्माद।
जर्जरपन में भी ले आता नवयौवन की याद।

और (याद आया अब)—
मृगनयनी का नयन-विलास,
हँसती और लजाती थी—
चितवन कानों के पास,

गोल गुलाबी गालों में—
भरकर ऊषा का रङ्ग,
पैना तीर चला चितवन का,
करती थी भ्रू-भङ्ग,

मैंने देखा था उसमें, गिरते फूलों का हास।
सन्ध्या के काले अम्बर में मिटता अरुण-विकास।

दूर! दूर!!—मत भरो कान में,
वह मतवाला राग,
यही चाहते हो मैं कर लूँ
इस जग से अनुराग?

गिरते हुए फूल से कर लूँ
क्या अपना शृङ्गार?
करने को कहते हो मुझसे,
निश्चल शव से प्यार!

गिन डालूँ कितनी आहों में अपने मन के भाव?
पथराई आँखों से कैसे देखूँ विष का स्राव!
अरे, पुण्य की भाषा ही में
क्यों कहते हो पाप?

क्षणिक सुखों की नीवों पर
क्यों उठा रहे सन्ताप ?
सुमन-रङ्ग से किस आशा पर
करते अमर विहार ?
ओस-कणों में देख रहे—
सारे नभ का शृङ्गार ?

प्यार-प्यार क्यों प्यार कर रहे नश्वरता से प्यार ?
यहाँ जीत में छिपी हुई है इस जीवन की हार !

मृत्यु वही है, जिसमें होती,
जीवित क्षण की हार,
वे ही क्षण क्यों भाग रहे हैं
वर्तमान के पार ?
मेरे आगे ही, मेरे
जीवन का नाश-विलास,
झाँक शुष्कता रही चोर-सी,
हृदय-सुमन के पास,

जीवन-आभा बनती जाती दिन-दिन अधिक मलीन।
अंधकार में भी बनता हूँ मैं लोचन से हीन।

भूल रहा हूँ पाकर स्मृति की,
चञ्चल एक हिलोर,
देख रहा हूँ मैं जीवन के
किसी दूसरी ओर,

हाँ, वह यौवन-लाली करती
जीवन-सुमन विहार,
मादकता में धूल-कणों से—
भी करती थी प्यार,

शुष्क पत्तियों से भी करती आलिङ्गन का हाव।
मतवाले बन-बनकर आते, मन के नीरस भाव।

काले भावों की रजनी में
आशा का अभिसार,
मैंने छिपकर देखा था,
देखा था कितनी बार,

उनका आना और समुत्सुक—
मेरे मन का प्यार,
दोनों भाव बना देते थे
लज्जित लोचन चार,

किन्तु, मुझे क्या मिलता था? क्या बतला दूँ उपहार?
शीतल ओठों का मुरझाया-सा चुम्बन उस बार।

उत्सुकता के बदले में यह
भीषण अत्याचार?
घृणा, घृणा शत-जिह्वा से
डसती थी बारम्बार,

आँखों की मदिरा का बन जाना
आँसू की धार,
बाहु-पाश का शक्ति-हीन हो
गिरना धनुषाकार

यह था क्या उपहार, अरे इस जीवन का उपहार!
फूल-रूप क्यों रखता है यह धूल-रूप संसार?

छविमय कहते हो जिसको
जिसमें है रूप अपार,
हाय, भरा है उसमें कितने,
पापों का संसार!

पहन रहे हो हार,
उसी में झूल रही है हार,
पुण्य मानकर क्यों करते हो,
इन पापों से प्यार?

मुझे न छूना, जतलाओ मत अपना झूठा प्यार।
धूल समझकर छोड़ चुका हूँ यह कलुषित संसार।

रूपराशि

(१९३१)
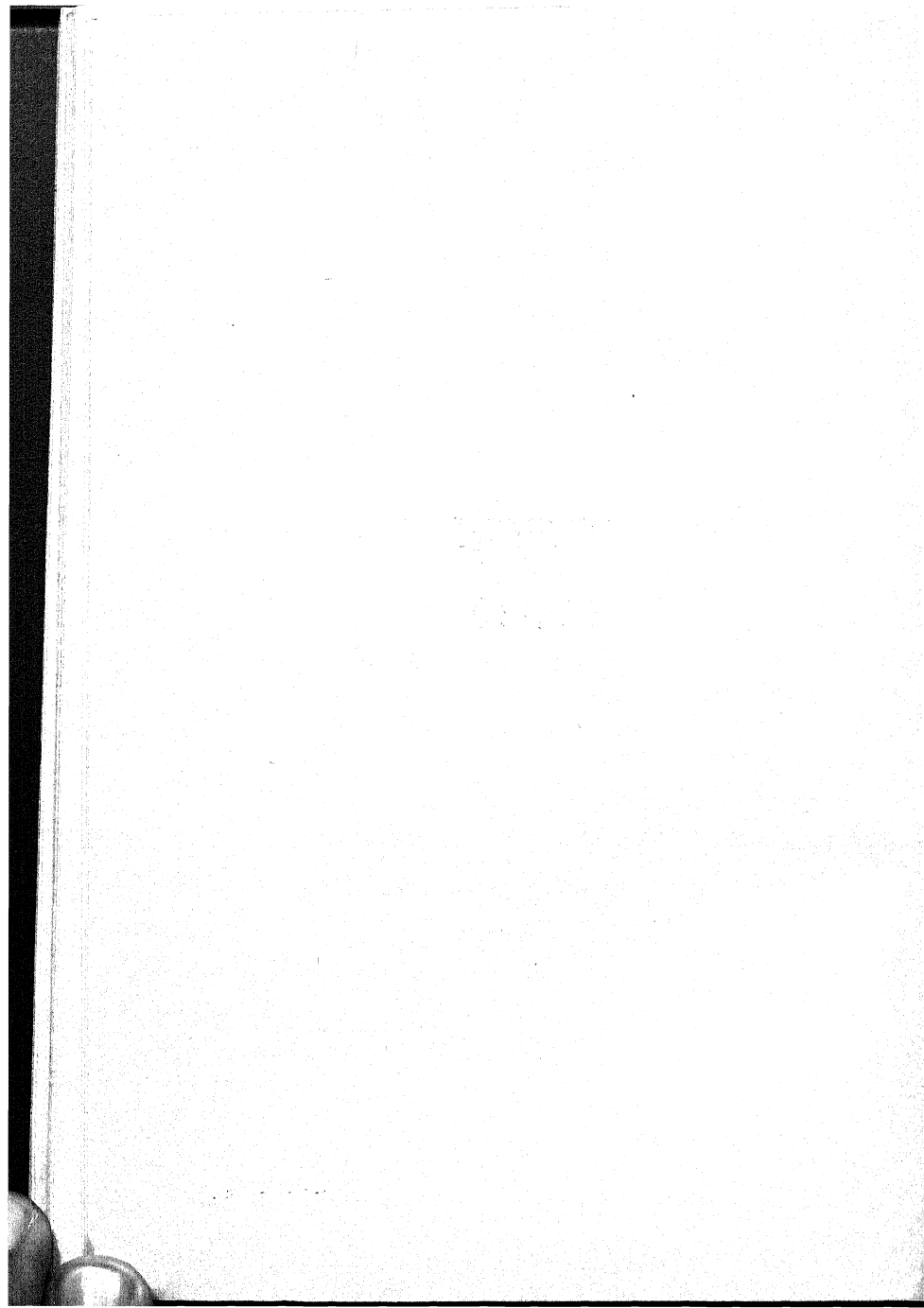
१

यह रात–सतम–निस्तब्ध-शान्त,
केवल जग में है सजग श्वास !
हैं शिथिल भ्रमित-से दो पतंग ;
मेरे दीपक के आस-पास ! !
नभ-पथ यात्री तारे स-मौन,
हलकी नीली लघु किरण डाल !
जागृति का देकर कुछ प्रकाश,
उज्ज्वल करते हैं अन्तराल ! !
कलिका के निद्रित अधर मञ्जु,
कोमल शीतल निस्पन्द बन्द !
दें ऐसे भावों के समूह,
उर में जागें दो-चार छन्द ! !

२

शान्त है, नीरव है यह रात !
सुकुमारी ! चुप !! पवन न पावे
प्रति-ध्वनि का आघात !
शान्त है, नीरव है यह रात ! !

श्वास-तार पर झूल रहा है,
सुप्त शयित संसार।
तारे हावों ही में इङ्गित—
करते कम्पित प्यार।
क्यों चिंतित हो? जग-दृग पर है,
मधुर नींद का भार।
मैं हूँ, तुम हो, जाग रहे हैं—
दो विस्तृत संसार।
अपनी वाणी में रख लो,
मेरे उर का सम्वाद।
आओ, सो जाओ, भूलो
इस जागृतपन की याद!!

३

समय शान्त है मौन तपस्वी-सा तप में लवलीन,
रात्रि मुझे तो दिन ही है, केवल दिनकर से हीन,
नभ के पद पर धरा पड़ी है, यह है चिर अभिशाप,
तारे अपना हृदय खोल दिखलाते हैं सन्ताप।

प्रेयसि, जग है एक—
भटकता शून्य स-तम अज्ञात,
एक ज्योति-सी उठो—
गिरो पथ-पथ पर बनकर प्रात।

मैं तुमसे मिल सकूँ यथा उर से सुकुमार दुकूल,
समय-लता में खिले मिलन के दिन का उत्सुक फूल,
मेरे बाहु-पाश से वेष्ठित हो यह मृदुल शरीर,
चारों ओर स्वर्ग के होगा पृथ्वी का प्राचीर।

नभ के उर में विमल नीलिमा,
शयित हुई सुकुमार,
उसी भाँति तुमसे निर्मित हो,
मेरा उर-विस्तार।

४

मैं तुमसे मिल गया प्रिये!
यह है जीवन का अन्त
इसी मिलन का गीत कोकिले!
गा जीवन – पर्यन्त।

सुमन मधुप को बुला-बुला कर,
देंगे यह सम्वाद
कलियाँ कल जागेंगी लेकर,
इसी मिलन की याद।

प्राची के बिखरे सब बादल,
बदल – बदलकर रूप
किरण-साँस में बतला देंगे,
मेरा मिलन अनूप।

इस संसार—विवर में है,
अति लघु प्राणों का वास
सुख - दुख के दो कोण,
उन्हीं में रुदन और है हास।

इसके परिमित पल में है—
इस जीवन का उपहास,
एक दृष्टि में जन्म, दूसरी—
में है अमर प्रवास।

यह संसार शिशिर है—
तुम हो विश्वाकार वसन्त
मैं तुमसे मिल गया प्रिये!
यह है यात्रा का अन्त।

५

वृन्दावन का वह रास-रङ्ग।

तुम रति-सी आई थीं सभीत, मैं? मैं था उच्छृङ्खल अनङ्ग।
मेरे कितने थे रखे नाम, गोपाल, कृष्ण, बलवीर, श्याम,
सूनी गलियों में थीं सभीत, इसलिए चलातीं मुझे सङ्ग।
नीले नभ में तुम रोज-रोज, कितने ही तारे नये खोज,
मुझसे कहती थीं चलो आज, उनमें रहने की है उमङ्ग।
सच! झूठ!! (कहूँ मैं किस प्रकार), गिरती थीं भू पर हार-हार,

मेरे हाथों में तन समेट, घर जाने का था नया ढङ्ग।
मेरी बनमाला तोड़-तोड़, अपनी माला से जोड़-जोड़।
मेरे उर-तट पर सदा छोड़—देती थीं साँसों की तरङ्ग।
तुम रति-सी आई थीं सभीत, मैं? मैं था उच्छृङ्खल अनङ्ग।

वृन्दावन का वह रास-रङ्ग।

६

मेरे सुख की किरन अमर!
जीवन-बूँदों से चल-चलकर;
बिखरो इन्द्र-धनुष बन कर।
मेरे सुख की किरन अमर।
मेरे नव-जीवन बादल में
रङ्ग सुनहला दोगी भर?
बाला बन कर छू लोगी क्या
मेरा यह पीड़ित अन्तर?
जब मेरे क्षण सोते होंगे
अन्धकार के अम्बर पर;
तब तुम प्रथम प्रकाश-ज्योति बन
उन्हें जगाना चूम अधर।
मेरी आँखों के आँसू के
बिन्दु बने नीरव निर्झर;

तब तुम उस धारा पर गिरना
प्रतिबिम्बित होकर मृदुतर।
मेरे जीवन-नभ के नीचे
जब हो अन्धकार-सागर;
तब तुम धीरे-धीरे से आ
फेनिल-सी सजना सुखकर।

मेरे जीवन में जब आवें
अन्धकार के श्याम प्रहर;
तब तुम खद्योतों में छिपकर
आ जाना चुपचाप उतर।
मेरे सुख की किरन अमर!

७

प्रिये, यह मेरा है अधिवास।
इसके पीछे ही मिलता है,
पृथ्वी से आकाश।
प्रिये, यह मेरा है अधिवास।

तारे नभ से किरणें ही
देकर हो जाते मौन,
अन्धकार फैला जाता है,
यहाँ न जाने कौन?

शिशिर - ग्रीष्म - पावस - शिशु
हँसकर, जल कर, रोकर आह !
बन्दी हैं ! (क्यों अरे, तुम्हारे,
दृग में अश्रु-प्रवाह ! !)
तुम तो तरुणा करुणा हो,
आई हो मेरे द्वार !
क्या मेरा अधिवास बनेगा
एक अमर संसार !

८

इस जग में जीवित हूँ मैं,
कण-कण के परिवर्त्तन से
तुमने मुझको बाँधा है,
इन साँसों के बन्धन से !
चर हूँ, पर नियति नचाती,
मुझको मेरे ही मन से,
नश्वरता से लड़ता हूँ,
यौवन के अवलम्बन से।
मैं भूला अपनापन-पथ,
जग के इस अविदित वन से,
प्रेयसि ! आओ तारों के—
झिलमिल प्रकाश-कम्पन से।

६

कहता है भारत तेरे गौरव की एक कहानी,
वैभव भी बलिहार हुआ था तेरे मुख का पानी।
नूरजहाँ! तेरा सिंहासन था कितना अभिमानी!
तेरी इच्छा ही बनती थी जहाँगीर की रानी!

फूलों के यौवन से सज्जित—
केश-राशि थी खोली,
तन से तो तू युवती थी पर—
मन से कितनी भोली!

एक स्वप्न था कभी आगरे ने विस्मित हो देखा,
मुग़लों के भाग्यों में थी बस एक सुनहली रेखा।
उस रेखा से ही सज्जित तेरी मृदु आकृति आई,
जिस पर छवि-विभूति सोई थी यौवन में अलसाई!

सिंहासन के मणियों ने थी—
शोभा वही निहारी,
जिसके लिए सलीम—
शाहज़ादे से बना भिखारी।

कान्तिमती थी मानो शशि-किरणों पर तू सोती थी,
राजमहल की सरस सीप में तू जीवित मोती थी।
वह मोती का प्यार—चुप रहो ऐ सलीम, मत बोलो!
इस सौंदर्य-सुधा में मत विषमयी वासना घोलो!

वह मोती का प्यार—सजा है,
जिसमें छवि का पानी!

कैसे रक्षित होगा ? यह—
दुनिया तो है दीवानी।

कोमल छवि का मोल! वासना ही के उपहारों में—
और प्रेम का मोल रत्न के—हीरों के—हारों में—
करता है संसार, यही है उसकी रीति निराली,
अन्धकार से तारों का विक्रय करती निशि काली।

यह न स्थान है जहाँ प्रेम का-
मूल्य लगाया जावे,
नूरजहाँ तेरे मन का सौदा—
सुलझाया जावे।

जहाँगीर क्या समझ सका था तेरे मन की बातें,
तेरे साथ उसे भाती थीं बस चाँदी की रातें।
सारी रात देखते थे तारे तेरे दृग-तारे,
प्रातः तेरे आँसू बनकर बिखर गये थे सारे।

इस रहस्य ही में करुणा की
थी अव्यक्त कहानी,
कितने हृदय-प्रदेशों की थी
एक साथ तू रानी।
(न आँखों में देखी जाती—
थी मदिरा की लाली,
स्वप्न बनी तू और साथ ही
स्वप्न देखने वाली)।

सदियों के सागर में डूबो तेरी गौरव-गाथा,
उफ़, तेरे चरणों पर था किस-किस प्रेमी का माथा।
जगत देखता रहा फूल वह तोड़ ले गया माली,
हाथ बढ़े ही रहे गिर पड़ी यौवन की वह प्याली।
नूर-रहित हो गया जहाँ,
तेरे जग से जाने से,
नूरजहाँ, तू जाग—जाग फिर
मेरे इस गाने से।

१०

[शाहजहाँ बीमार है। उसके चार पुत्र हैं—दारा, शुजा, मुराद और औरंगज़ेब। राज-सिंहासन के लिए उसके चारों पुत्रों में लड़ाई हो रही है। औरंगज़ेब ने दारा और मुराद को पराजित कर दिया है। वह शुजा का पीछा बंगाल में कर रहा है। शुजा बनारस, मुंगेर, मुर्शिदाबाद, ढाका से होता हुआ अराकान के राजा की शरण लेता है। वहाँ भी राजा से मनोमालिन्य होने के कारण शुजा अराकान के प्रशान्त वन में सदैव के लिए चला जाता है। मैं अराकान से पूछना चाहता हूँ—'शुजा कहाँ है ?'।]

मौन-राशि ओ अराकान !
अथ-हीन और इति-हीन मौन,
यह मन है, तन भी यही मौन,
निर्जनता की बहुमुखी धार,

अविदित गति से है वही मौन !
यह मौन ! विश्व का व्यथित पाप,
तुझ में क्यों करता है निवास ?
क्या व्योम देख कर ? अरे व्योम—
में तारों का है मुक्त हास ।
ये शिला-खंड—काले, कठोर—
वर्षा के मेघों-से कुरूप ।
दानव-से बैठे, खड़े या कि—
अपनी भीषणता में अनूप !
ये शिला-खंड—मानो अनेक-
पापों के फैले हैं समूह !
या नीरसता ने चिर निवास—
के लिये रचा है एक व्यूह !
वह सर्प—(मृत्यु-रेखा सजीव)—
खिंचती चलती है दिशा-हीन !
विष मौन कर रहा है प्रवास,
ले एक वक्र वाहन मलीन ।
दो भागों में जिह्वा-प्रवाह,
चञ्चल है सुख-दुख के समान,
तजता समीर फुफकार—आह,
यह देख मृत्यु का सन्गति यान ।
ओ अराकान ! यह विषम भूमि,

भय ही जिसका है द्वारपाल,
शिशुपन यौवन से है अजान,
जर्जरपन ही था जन्मकाल।
सुख-सदृश न्यून हैं लघु प्रसून,
दुख के समान हैं कुश अपार,
दोनों का अनुचित विवश योग,
है जीवन का अज्ञात हार।
क्या हार ? आह, वह भुजा वीर !
संग्राम-भूमि में गया हार !
यह वही भुजा है जो सदैव—
वैभव का था जीवित विहार !
यह वही भुजा है एक बार—
जिससे सज्जित थे राज-द्वार !
अब हार–(विजय की पतित राशि)
लज्जित करता है बार-बार।
जीवन के दिन क्या हैं अनेक ?
वृद्धा के सिर के श्याम केश !
जर्जरपन ही है मुक्त-द्वार,
जिसके सम्मुख है मृत्यु देश !
यह वैभव का उज्ज्वल शरीर,
दो दिन करता है अट्टहास,
फिर देख स्वयं निज विकृत वेश,

लज्जित हो करता है प्रवास !
वह शुजा ! आह, फिर वही नाम—
मचले बालक-सा बार-बार,
सोई स्मृति पर लघु हाथ मार,
क्यों जगा रहा है इस प्रकार ?
वह शाहजहाँ का राज्यकाल !
मानो हिमकर का रजत हास !
लक्ष्मी का था इस्लाम-रूप !
स्वर्गों का था भू पर निवास !
वे दिन क्या थे ! यौवन-विलास—
सन्ध्या-बादल-सा था नवीन !
यह रास-रङ्ग—वह रास-रङ्ग—
यौवन था यौवन में विलीन !
धन भूल गया था व्यक्ति-भेद,
उसकी गति का था हुआ नाश,
था स्वर्ण-रजत का एक मूल्य,
रत्नों में पीड़ित था प्रकाश।
रमणी के कण्ठों पर स-रत्न,
सोया करता था बाहु-पाश,
उच्छृङ्खलता भी थी प्रमत्त,
चिन्ता जीवन से थी हताश।
शासित के जी हलके सदैव—

थे, शासक पर था राज्य-भार !
उसकी जागृति से सभी काल,
निद्रित रहता था दुराचार।
उस दिन वह केवल था विनोद,
जब नीली यमुना के समीप,
सञ्चित था उत्सुक जन-समूह,
(बुझते जाते थे नभ-प्रदीप)।
काले बादल-से दो प्रमत्त,
हाथी लड़ते थे बार-बार,
विद्युत-सा उद्धत चपल शब्द,
सूचित कर देता था प्रहार।
अपनी आँखों में भरे हर्ष—
उत्सुकता की चञ्चल हिलोर,
नृप शाहजहाँ रवि-रश्मि-युक्त—
हो, देख रहा था उसी ओर।
सम्मुख थे उसके राजपुत्र,
चञ्चल घोड़ों पर थे सवार,
आश्चर्य उमङ्गों का सदैव—
दृग में बढ़ता था तीव्र ज्वार।
औरंगज़ेब की ओर एक—
गज दौड़ा बन साकार क्रोध,
पर थी उसकी तलवार तीव्र,

करने वाली चञ्चल विरोध।
जीवन का अब अस्थिर प्रवाह,
दो क्षण तक ही था रहा शेष,
पर वाह, शुजा रे शुजा वीर!
तेरी चञ्चलता थी विशेष!
तूने विद्युत बन कर सवेग,
विद्युत-तर कर भाला विशाल,
उस मृत्यु-रूप गज के स-रौद्र,
मस्तक पर छोड़ा था कराल।
गज घूमा, तू औरंगज़ेब—
को बचा, हो गया अमर वीर!
मैं तुझे खोजता हूँ अलक्ष्य,
अब अराकान में हो अधीर।
था शाहजहाँ बीमार, और—
दारा बैठा था नमित माथ,
जिन पर आश्रित था राज्य-भार,
वे काँप रहे थे आज हाथ।
दरबार हो गया नियम-हीन,
प्रातः-दर्शन भी था न आह,
रवि-शाहजहाँ से हुआ शून्य,
प्रति दिन प्राची-सा ख़्वाबगाह।
गत तीस वर्ष का राज्यकाल,

विस्तृत था स्वप्नों के समान,
जिनमें निद्रित था बन प्रशान्त,
इस जीवन का अस्तित्व ज्ञान।
'शाही-बुलन्द-इक़बाल' युक्त,
दारा का शासन था स-हास,
पर शाहजहाँ का मृत्यु-कष्ट,
करता मुख से मुख पर प्रवास।
चिन्ता-निर्मित नत व्यथित शीश,
झुकते थे दिन में अयुत बार,
मृदु वायु सह रही थी अनन्त,
आशीषों का अविराम भार।
जिस तन पर मणियों का प्रकाश,
अपना जीवन करता व्यतीत,
अब वह तन है कितना मलीन!
कितना निष्ठुर है यह अतीत!
जब शाहजहाँ ने एक बार,
सोचा जीवन का निकट अन्त;
दृग से दो आँसू गिरे, और
उनमें आकांक्षा थी अनन्त।
ये जीवन के दो दिवस शेष,
जिनमें होंगी स्मृतियाँ अतीत,
प्रिय ताजमहल के पास क्यों न,

हों प्रेयसि-चिन्तन में व्यतीत ?
कुछ दूर—आगरे में अनूप,
सञ्चित है स्मृति का अश्रु-विंदु,
वह ताज—(वेदना की विभूति),
अङ्कित है भू पर पूर्ण इन्दु।
यह शाहजहाँ है एक व्यक्ति,
जिसने इतना तो किया काम,
दे दिया विरह को एक रूप,
है 'ताज' उसी का व्यथित नाम।
पर—है प्रेयसि की स्मृति पवित्र,
कितनी कोमल ! कितनी अनूप !
फिर शाहजहाँ ने बन कठोर,
क्यों दिया उसे पाषाण-रूप ?
यदि फूलों से निर्मित अम्लान,
यह ताजमहल होता सहास,
तब होता स्मृति का उचित चिह्न,
मैं क्यों रहता इतना उदास ?
तारों की चितवन के समान,
था शाहजहाँ अपलक अधीर,
यमुना की लहरों से स-मोद,
क्रीड़ा करता था मृदु समीर।
कितने भावों को कर विलीन,

छोटे-से दृग के बीच आज,
दिल्ली का स्वामी बन मलीन,
था देख रहा निस्तब्ध ताज।
वह ताज ! देखकर उसे हाय,
उठता था दृग में विकल नीर,
मुमताज ! कहाँ पाषाण-भार,
है कहाँ तुम्हारा मृदु शरीर !
है कहाँ तुम्हारी मदिर-दृष्टि,
जिसमें निमग्न था अधर-पान ?
अधरों में संचित था अनूप,
इक्षुज-सा कोमल मधुर गान !
था मधुर गान !...अः, वह मुराद,
औरंगज़ेब के सहित आज,
है शुजा-शुजा भी है स-ओज,
सजने को भीषण युद्ध-साज।
दिल्ली का सिंहासन विशाल,
है आज युद्ध का पुरस्कार,
जीवन होगा जय का स्वरूप,
क्या मृत्यु-रूप होगी न हार ?
नृप शाहजहाँ की हीन शक्ति,
बन गई सुतों का बल अपार,
दारा, मुराद, औरंगज़ेब,

थे मानो जीवित अहंकार।
सतलज की लहरें हुईं क्षुब्ध,
जब उठा भयंकर युद्ध-नाद,
प्रतिबिम्बित था जल में अनन्त—
सेना-समूह—भीषण विषाद।
दारा का वैभव-पूर्ण युद्ध,
वृद्धा-जीवन-सा था अशक्त,
(धन का सेवक था युद्ध-वाद्य,
बह गया स्वर्ण के साथ रक्त!)
वह दिल्ली से लाहौर और—
मुलतान सिन्ध से गया कच्छ,
कलुषित—सा होने लगा नित्य,
उसकी जय का आकार स्वच्छ!
दादर में दारा की विभूति—
का द्रुत आँसू में था प्रवाह,
नादिरा-हृदयसङ्गिनी आज,
थी मृत्युसङ्गिनी आह! आह!
दारा के उर पर अश्रु और
मोती बिखरे थे बन अधीर,
सिसकियों-भरे चुम्बन-समेत,
था मृतक नादिरा का शरीर!!
बन्दी था अब वह राजपुत्र,

भिक्षुक-स्वरूप हो गया ईश !
क्षण-एक हुआ चीत्कार रुद्ध,
फिर गिरा रक्त से सना शीश।
वह शीश देख औरङ्गज़ेब—
हँसकर रोया था बहुत देर,
मानो निर्दयता ने स-भूल,
थोड़ी-सी करुणा दी बिखेर।
भोला मुराद- (मदिरा-प्रवीण)—
सोया था होकर शस्त्र-हीन,
चरणों को अलसाई अनूप,
थी दबा रही बाँदी नवीन,
उस समय दुष्ट औरंगज़ेब—
ने भेजा था क्यों शेख मीर ?
जिससे सहायता हीन सुप्त—
भाई का बन्दी हो शरीर।
अः शुजा ! और तुम ! कहो वीर !
बंगाल तुम्हारा था प्रवास,
सुख का दिन—सुख की रात शान्त,
यह सत्रह वर्षों का निवास !
उस राजमहल की शान्त वायु—
पा शाहजहाँ का समाचार,
निर्बल रोगी-सी हुई क्षुब्ध,

आकांक्षा का हिल उठा तार।
तू बढ़ा हाथ में ले सगर्व,
शासन का गौरव-पूर्ण भार,
तेरा गौरव था एक चित्र—
तेरा साहस था चित्रकार!
थी शत्रु-वाहिनी अति प्रमत्त,
तू विमुख हुआ था बार-बार,
मानो दृढ़ तट पर शक्ति-हीन
लहरों का था असफल प्रहार।
औरंगज़ेब से हुआ युद्ध,
जिसमें थी गज-सेना अपार,
विजयी बनकर भी कई बार,
तुझको क्यों स्वीकृत हुई हार?
ढाका से भागा अराकान,
खोकर अपना विजयी स्वभाव,
कितनी नदियाँ कीं शीघ्र पार,
आशाओं ही की बना नाव।
गौरव-रक्षण के हेतु वीर!
तूने अपनाया वन-प्रदेश!
रक्षित है क्या अब भी महान्!
तेरा वह विक्रम वीर वेश?
तेरे वैभव का मृदु विलास,

इस अराकान से था अपार,
इसके पर्वत से भी महान,
तेरे सुख का था मधुर भार।

इसमें विभीषिका भी सदैव,
रहती है हो-होकर सभीत,
तेरे समीप मुस्कान मञ्जु,
अधरों में होती थी व्यतीत।

तरु तोड़-तोड़कर यहाँ नित्य,
झंझा करता है अट्टहास!
तेरे शरीर में नव सुगन्धि,
लिपटी-सी करती थी निवास।

ले अपने वैभव का शरीर,
आया है तू इस भाँति श्रान्त,
एकान्त भूमि में इस प्रकार,
तू ही है उजड़ा एक प्रान्त!

ओ अराकान के शून्य प्रान्त!
तेरे विशाल तन में प्रशान्त,
वह शुजा हृदय की भाँति आज,
क्या धड़क रहा है बन अशान्त!

चित्ररेखा

(१९३५)

१

देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात ?

एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम-मिलन की बात !

तुमसे परिचित होकर भी मैं

तुमसे इतनी दूर !

बढ़ना सीख-सीखकर मेरी

आयु बन गई क्रूर ! !

मेरी साँस कर रही मेरे जीवन पर आघात ॥

देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात ?

यह ज्योत्स्ना तो देखो, नभ की

बरसी हुई उमङ्ग,

आत्मा-सी बनकर छूती है

मेरे व्याकुल अङ्ग।

आओ, चुम्बन-सी छोटी है यह जीवन की रात ॥

देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात ?

२

यह तुम्हारा हास आया।

इन फटे-से बादलों में कौन-सा मधुमास आया ?

यह तुम्हारा हास आया।

आँख से नीरव व्यथा के
दो बड़े आँसू बहे हैं,
सिसकियों में वेदना के
व्यूह ये कैसे रहे हैं!
एक उज्ज्वल तीर-सा रवि-रश्मि का उल्लास आया ॥

यह तुम्हारा हास आया।

आह, वह कोकिल न जाने
क्यों हृदय को चीर रोई?
एक प्रतिध्वनि-सी हृदय में
क्षीण हो हो हाय, सोई।
किन्तु इससे आज मैं कितने तुम्हारे पास आया!
यह तुम्हारा हास आया।

३

मैं भूल गया यह कठिन राह।
इस ओर एक चीत्कार उठा, उस ओर एक भीषण कराह ॥
मैं भूल गया यह कठिन राह।

कितने दुख, बनकर विकल साँस
भरते हैं मुझ में बार बार,
वेदना हृदय बन तड़प रही
रह रह कर करती है प्रहार,

यह निर्झर—मेरे ही समान
किस व्याकुल को है अश्रुधार !
देखो, यह मुरझा गया फूल
जिसको कल मैंने किया प्यार !
रवि-शशि ये बहते चले कहाँ, यह कैसा है भीषण प्रवाह !!
मैं भूल गया यह कठिन राह।
किसने मरोड़ डाला बादल
जो सजा हुआ था सजल चीर !
केवल पल भर में दिया हाय,
किसने विद्युत का हृदय चीर !!
इतना विस्तृत होने पर भी
क्यों रोता है नभ का शरीर !
वह कौन व्यथा है, जिस कारण
है सिसक रहा तरु में समीर !!
इस विकल विश्व में भी बोलो, क्यों मेरे मन में उठी चाह ?
मैं भूल गया यह कठिन राह।
वारिधि के मुख में रखी हुई
यह लघु पृथ्वी है एक ग्रास,
जिसमें रोदन है कभी, या कि
रोदन के स्वर में अट्टहास,
है जहाँ मृत्यु ही शान्ति और
जीवन है करुणामय प्रवास,

वय के प्याले में क्षण क्षण के कण
बढ़ा रहे हैं अधिक प्यास।
दो बूँदों में ही जहाँ समझ पड़ती सागर की अगम थाह ॥
मैं भूल गया यह कठिन राह।

यह नव बाला है, नारि-वेष—
रखकर आया है क्या वसन्त ?
जिसकी चितवन से पञ्चबाण
निकला करते हैं बन अनन्त,
जिसकी करुणा की दृष्टि विश्व—
सञ्चालित कर देती तुरन्त,
उसके जीवन के एक बार के
क्षुद्र प्रणय में व्यथित अन्त !
यह छल है, निश्चय छल ही है, मैं कैसे समझूँ इसे आह !!
मैं भूल गया यह कठिन राह।

रजनी का सूनापन विलोक
हँस पड़ा पूर्व में चपल प्रात,
यह वैभव का उत्पात देख
दिन का विनाश कर जगी रात,
यह प्रतिहिंसा इस ओर और
उस ओर विषम विपरीत बात,
नभ छूने को पर्वत-स्वरूप

है उठा धरा का पुलक गात।
है एक साँस में प्रेम दूसरी साँस दे रही विषम दाह ॥
मैं भूल गया यह कठिन राह।
ओसों का हँसना बाल-रूप
यह किसका है छविमय विलास ?
विहंगों के कण्ठों में स-मोद
यह कौन भर रहा है मिठास ?
सन्ध्या के अम्बर में मलीन
यह कौन हो रहा है उदास ?
मेरी उच्छ्‌वासों के समीप
कर रहा कौन छिपकर निवास ?
अब किसी ओर चीत्कार न हो,
मैं कहूँ न अब दुख से कराह ! !
'मैं भूल गया यह कठिन राह।'

४

फैला है नीला आकाश।
सुरभि, तुम्हें उर में भरने को
फैला है इतना आकाश ॥
तुम हो एक साँस-सी सुखकर
नभ-मण्डल है एक शरीर।

यह पृथ्वी मधुमय यौवन है
तुम हो उस यौवन की पीर ॥
पथ बतला देना तारक—
दीपक का दिखला नवल प्रकाश।
सुरभि, तुम्हें उर में भरने को
मैं फैलूँगा बन आकाश ॥

५

मेघों का यह मण्डल अपार
जिसमें पड़कर तम एक बार ही
कर उठता है चीत्कार!!
ये काले काले भाग्य-अंक
नभ के जीवन में लिखे हाय!
यह अश्रु-बिन्दु-सी सरल बूँद भी
आज बनी है निराधार!!
यह पूर्व दिशा जो थी प्रकाश की—
जननी छविमय प्रभापूर्ण,
निज मृत शिशु पर रख नमित माथ
बिखराती घन-केशान्धकार!!
जीवन है सांसों का छोटे छोटे—
भागों में चिर विलाप,

अब भार-रूप हो रही मुझे
मेरी आखों की अश्रु-धार ॥
वर्षा है, नभ औ, धरा बीच
मिलने का है क्या बँधा तार ?
नभ में कैसा रोमाञ्च हुआ
बिजली का विचलित वेष धार ! !
सुख दुख के चरणों से विशाल
करता है सम्मुख नृत्य कौन ?
मैं भूल रहा हूँ; मेघ आज
रोकर कैसे है निराकार ! !

६

जीवन-सङ्गिनि चञ्चल हिलोर !
प्रति पल विचलित गति से चलकर,
अलसित आ तू इसी ओर ॥
मैं भी तो तुझ-सा हूँ विचलित,
कठिन शिलाओं से चिर परिचित,
प्रतिबिम्बित नभ-सा चञ्चल चित,
फेनिल के आँसू से चर्चित,
जान न पाता हूँ जीवन का—
किस स्थल पर है सुखद छोर ॥

सुनें परस्पर सुख-ध्वनियाँ हम,
मैं न अधिक हूँ, और न तुम कम,
आज न कर पाऊँगा संयम,
मैं न बनूँ तो, तू बन प्रियतम,
मृदु सुख बन जावे इस क्षण में—
विरह-वेदना अति कठोर।
जीवन-सङ्गिनि चञ्चल हिलोर॥

७

इस भांति न छिपकर आओ।
अन्तिम यही प्रतीक्षा मेरी
इसे भूल मत जाओ॥

रजनी के विस्तृत नभ को जब मैं दृग में भर लेता,
एक एक तारे को कितने भाव-युक्त कर देता!
उसी समय खद्योत एक, आता वातायन द्वारा,
मैं क्या समझूँ, मुझे मिला उज्ज्वल संकेत तुम्हारा!
प्रियतम, मेरी स-तम निशा ही को
शशि-किरण बनाओ॥
वह उपवन फूला, पर बोलो उसमें शान्ति कहाँ है?
सुमन खिले, मुरझाये, सूखे, गिरे, वसन्त यहाँ है?
नहीं, मृत्यु ने यहाँ परिधि में बाँधा है जीवन को,

सुख तो सेवक बन रक्षित रखता है दुख के धन को।

प्रियतम, शाश्वत जीवन बन

मन में तो आज समाओ ॥

इस भांति न छिपकर आओ।

८

निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।

चल अविचल जल कल-कल पर

गुञ्जित कर गति की लघु लहरी ॥

निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।

साँसों के दो पतवार चपल,

सम्मुख लाते हैं नव नव पल,

अविदित भविष्य की आशंका की

छाया है कितनी गहरी ॥

निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।

मेरी करुणा का मृदु सावन,

पुलकित कर दे तन-तन-मन-मन,

विस्तृत नभ की व्याकुल विद्युत

पल पल बन जाती है प्रहरी ।।
निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी ।

९

करुणा का गहरा गुञ्जार ।
जिसमें गर्वित विश्व पिघलकर
बनता है आँसू की धार ।।

विश्व-साँस का नव निर्झर प्रिय,
मधु-प्रिय कोकिल का मधु-स्वर, प्रिय
मेरे जीवन के मधुवन में
यह है मधुकण का शृङ्गार ।।

सावन-शिशु घन-अंकित अम्बर,
रिमझिम रिमझिम है पुलकित स्वर,
कितने प्राणों के स्वाती में
यह मोती-सा उज्ज्वल प्यार ।।
करुणा का गहरा गुञ्जार ।

१०

सभी दिशाएँ उर से छूकर
फैला यह उदार अम्बर है

और बादलों के काले
कारागृह में बन्दी सागर है ॥
कैसा वह प्रदेश है जिसमें—
एक उषा, वह भी नश्वर है !
उज्ज्वल एक तड़ित् है जिसका—
जीवन भी केवल क्षण भर है ! !
इस जीवन की व्यथित कल्पना
आज समय-गति-सी चंचल है !
नभ से सीमित आज न जाने
क्यों मेरा यह स्वर निर्बल है ! !

११

यह कैसा आया बादल !
लघु उर में गूँजा करती है
एक वेदना बहुत विकल ॥
नभ के इस विशाल जीवन में
आँसू का छोटा-सा छल।
चंचल होने पर भी उसकी
भाग्य-रेख इतनी उज्ज्वल ! !
मेरा भी इतना लघु उर है
किन्तु वेदना है अविचल।

क्या उसमें अन्तर्हित है
करुणा की बूँदों का कुछ जल ?

१२

मेरा जीवन भरा हुआ है
विहगों के मृदु रागों में।
हृदय गूँजता है झींगुर के—
अविदित बँधे विहागों में॥
देह मिली है मुझसे, इन
ढीली साँसों के धागों में।
मेरी इच्छा लेकर यह नभ
भागा चार विभागों में॥
ये पल्लव हिल उठे, कौन-सा
सुख दे गया वसन्त-समीर।
क्षितिज, तोड़ दो आज
प्रेम से मेरी पृथ्वी का प्राचीर॥

१३

जीवन की एक कहानी है।
प्रकृति आज माता बनकर
कहती यह कठिन कहानी है॥

एक मनोहर इन्द्रधनुष फैला है नील गगन में,
क्या यौवन की लहर बही है वर्षा के जीवन में ?
बादल हैं किस रमणी के सङ्कुचित बाहु-बन्धन में ?
एक स्वप्न की रेखा है किरणों के नव जीवन में ?
नश्वरता भू पर भिक्षुक है,
पर नभ में वह रानी है ॥ जीवन०

अविरत साँसों के पथ पर, प्रिय निद्रा के नर्तन में,
निशा विभाजित हो जाती है तारों के कन कन में,
किन्तु उषा के उल्का से इस नीरव स्वर्ग-सदन में,
दिन की आग आह, लग जाती यह छल परिवर्तन में !
इस रहस्य को समझ, सुमन सूखा !
वह मुझसे ज्ञानी है ॥ जीवन०

१४

कलियो, यह अवगुण्ठन खोलो ।
ओस नहीं है, मेरे आँसू
से ही मृदु पद धो लो ॥
कोकिल-स्वर लेकर आया है
यह अशरीर समीर,
सुखमय सौरभ आज हुआ है
पंचबाण का तीर,

मन में कितना है रहस्य
ओ लघु सुकुमार शरीर !
व्योम तुम्हारे रुचिर
रङ्ग में डूबा है गम्भीर,
सुरभि-शब्द की एक लहर में,
तुम क्या हो, कुछ बोलो।
कलियो, यह अवगुण्ठन खोलो ॥

चन्द्रकिरण

(१९३७)

१
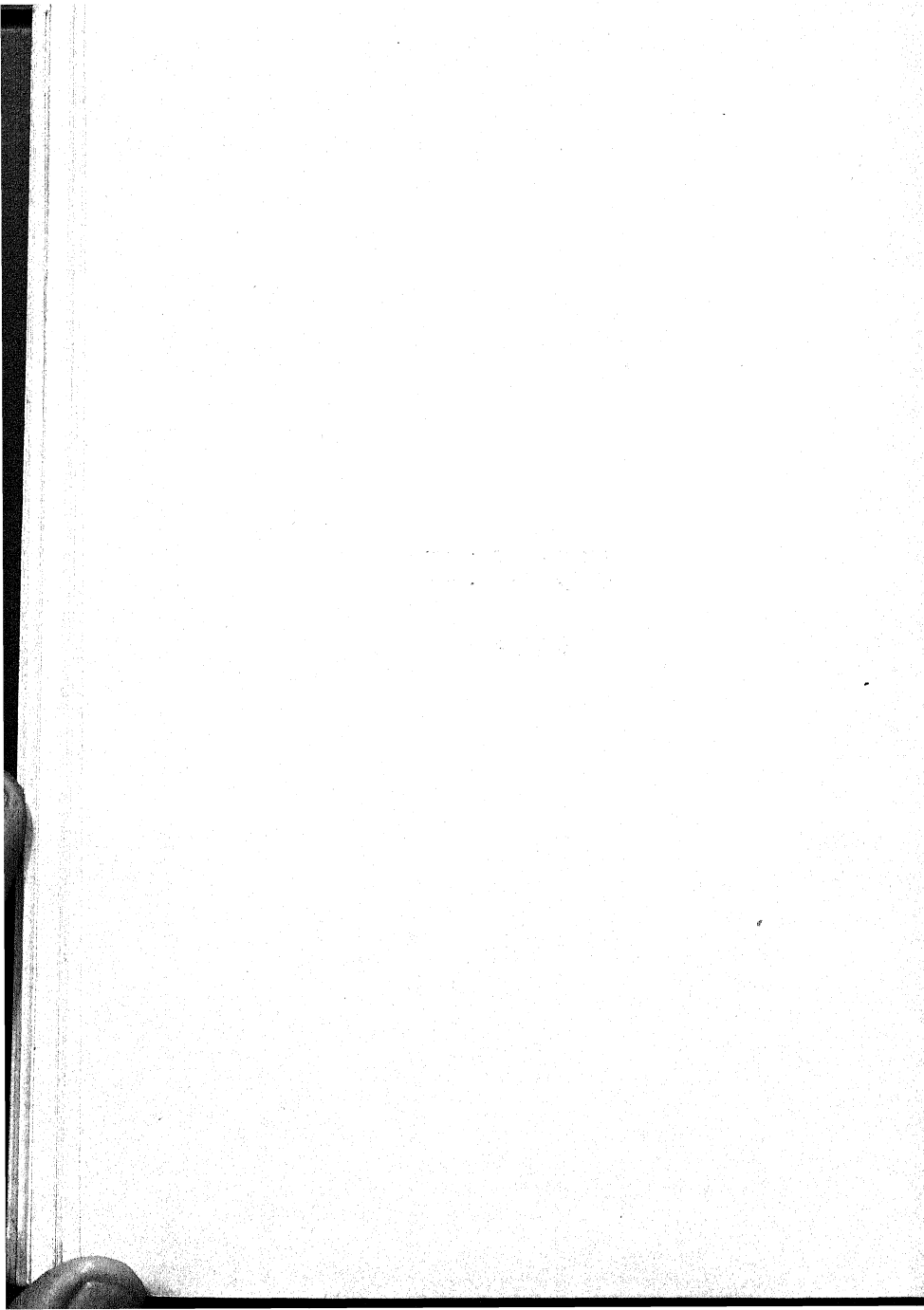
मैं तुम्हारे नूपुरों का हास।

लघु स्वरों में बन्द हो

पाऊँ चरण में वास।

मैं तुम्हारी मौन गति में

भर रहा हूँ राग;

बोलता हूँ यह जताने

हूँ तुम्हारे पास।

चरण-कम्पन का तुम्हारे

हृदय में मृदु भाव।

कर रहा हूँ मैं तुम्हारे

कण्ठ का अभ्यास।

हूँ तुम्हारे आगमन का

पूर्व लघु सन्देश;

गति रुकी, तो मौन हूँ,

गति में अखिल उल्लास।

मैं चरण ही में रहूँ

स्वर के सहित सविलास;

गति तुम्हारी ही बने

मेरा अटल विश्वास।

२

शून्य से उन्मुक्त कर
करुणा-कणों की यामिनी !
भावना की मुक्ति मुझको
दे सकोगी स्वामिनी ?
वायु की साँसें बिखरकर
पा रही निर्वाण हैं ;
यह सुरभि भी वायु की है
बन रही अनुगामिनी ।
यदि मुझे आभास देते—
हो कि बन्धन सत्य है ;
घोर घन-प्राचीर में तो
क्यों व्यथित है दामिनी ?
दो मुझे वह सत्य, जो
संसार का शासन करे ;
चिर दुखों की रात्रि भी
मुझको बने मधुयामिनी ।

३

एक दीपक-किरण-कण हूँ ।
धूम्र जिसके क्रोड़ में है,

उस अनल का हाथ हूँ मैं।
नव प्रभा लेकर चला हूँ,
पर जलन के साथ हूँ मैं।
सिद्धि पाकर भी तुम्हारी
साधना का ज्वलित क्षण हूँ। एक०
व्योम के उर में अपार
भरा हुआ है जो अँधेरा-
और जिसने विश्व को
दो बार क्या, सौ बार घेरा।
उस तिमिर का नाश करने—
के लिये मैं अखिल प्रण हूँ। एक०
शलभ को अमरत्व देकर
प्रेम पर मरना सिखाया।
सूर्य का सन्देश लेकर
रात्रि के उर में समाया।
पर तुम्हारा स्नेह खोकर—
भी तुम्हारी ही शरण हूँ। एक०

४

करुणा की आई छाया।
कोकिल ने कोमल स्वर भर

कुञ्जों-कुञ्जों में गाया।
जब विश्व व्यथित था, तुमने
अपना सन्देश सुनाया;
तरु के सूखे-से तन में
नव जीवन बनकर आया।
अपनी साँसों पर जीवन
कितनी ही बार भुलाया;
पर इतने रूपों में भी
क्या मैंने तुमको पाया?
यह जीवन तो छाया है,
केवल सुख-दुख की छाया;
मुझको निर्मितकर तुमने
आँसू का रूप बनाया।
करुणा की आई छाया।

५

मेरे जीवन में एक बार
तुम देखो तो अनुपम स्वरूप;
मैं तुममें प्रतिबिम्बित होऊँ,
तुम मुझमें होना ओ अनूप!
राका-शशि अपनी रश्मि-माल
जब रजनी को पहनाता हो;

अथवा जब फूलों के तन से
प्रेयसि सुगन्धि का नाता हो,
जब विमल ऊर्मि में लघु बुद्बुद
उल्लास-पीन लहराता हो;
जब तरु से लतिका का अन्तर
मधु-ऋतु में कम हो जाता हो,
उस समय हँसो, तो बरस पड़े
कण कण में विश्वों का स्वरूप।
मैं तुममें प्रतिबिम्बित होऊँ,
तुम मुझमें होना ओ अनूप!

६

वह बोल उठी कोकिल अधीर!
मेरे वसन्त के भीतर भी
दिख पड़ी शिशिर की क्या लकीर?
उसने तो मधु-ऋतु में गाया;
पर क्यों उसका उर भर आया,
क्या देखी उसने धूल, जहाँ मेरी प्रेयसि का है शरीर?
उसने निज स्वर इस ओर किया,
कुसुमित तरु को झकझोर दिया,
गिर पड़े भूमि पर मतवाले-से
कामदेव के सुमन-तीर।

मत बोल, मौन हो ओ अधीर !
यह निशा शान्त है यह समीर।
मेरी प्रेयसि का मधुर स्वप्न
कर्कश स्वर से मत आज चीर।
वह बोल उठी कोकिल अधीर !

७

मैं सुखी और यह विश्व विकल।
तारे किस आशा से प्रतिदिन
शून्य ! गगन में रहे निकल।

इस तृष्णा का पाया न अन्त;
फिर-फिर क्यों कुसुमित हो वसन्त,
बादल का लेकर विकृत रूप;
क्यों अस्थिर हो सागर अनन्त ?
उषा, न कोई मिला, कर चुकी
कितने ही शृङ्गार विफल।
मेरे जीवन की रेख श्वास;
अपनेपन से ही कर विलास,
होकर अपनी ही परिधि मञ्जु,
रोती-हँसती बन रुदन-हास।
प्रतिपल चलकर भी यह मुझको

बना चुकी अविकल, अविचल।
मैं सुखी और यह विश्व विकल।

८

आज देख ली अपनी भूल।
सुन्दरता के चयन हेतु
तोड़े मुरझानेवाले फूल।
जिस जीवन में हूँ मैं अथ से;
निकल रहा साँसों के पथ से,
रात्रि-दिवस की श्याम-श्वेत गति,
समझ रहा हूँ मैं अनुकूल!
समय हँसा, सुख उसको जाना,
यह जग तो था एक बहाना,
ये ग्रह, ये नक्षत्र कुछ नहीं,
नभ में हँसती है कुछ धूल!
आज देख ली अपनी भूल!

१

सांसों के चञ्चल समीर में,
जीवन-दीप जलाऊँ!
बन प्रकाश की ज्योति—
अँधेरे में छिपने को आऊँ?
करुणा के सागर में उठती हैं जब हिंस्र हिलोरें—
प्रिय-दर्शन-वरदान माँगती हैं नयनों की कोरें—
बाँध-बाँध आशा-बन्धन में,
तब मन को सुलझाऊँ?
दूर बसे हो, केवल स्मृति ही आकर यहाँ बसी है—
प्राणों के कण-कण से पीड़ा तुमने यहाँ कसी है—
अभिलाषा-तरु में विकसित हो,
दो दिन में मुरझाऊँ?

२

मेरे इस जीवन-मरु में क्यों रूप-सुधा बरसायी?
दो क्षण के प्रभात में ऐसी जीवन-निधि क्यों आयी?
मेरे स्वर परिमित हैं जैसे प्रातः नभ के तारे।
किन्तु मिलन के भाव न भर सकते हैं सागर सारे॥

जीवन का यह बाण चुभा है मुझ में कैसा विषमय !
क्या निकाल सकते हैं अन्तिम क्षण के हाथ तुम्हारे ?
तन के लघु घट में अतृप्ति सागर की लहर उठायी ॥ मेरे०
प्रिय, यह रात बहुत छोटी थी कैसे मैं मिल पाऊँ ?
मेरा स्वर नश्वर है, कैसे गीत तुम्हारे गाऊँ ?
साँसों के टुकड़े कर डाले, वे भी नियमित गति में
कैसे इनमें चिर-मिलाप का जीवन आज सजाऊँ ?
एक सुमन के जीवन ने क्यों यह वसन्त-श्री पायी ? मेरे०

३

तू जीवन का अभिसार लिये—
जग के पीछे क्यों बेकल है,
ये साँसें बस दो-चार लिए ?
हँसती थी वह वसन्त-श्री जब,
कोकिल ने स्वर-शृङ्गार किया ।
इस व्यथित जगत् को पल भर में,
सुषमा का सुख-संसार किया ॥

लेकिन यह नभ बदला न, झुका ही—
रहा नियति का भार लिये !!
ओ कवि ! तू अब तो जाग,
प्रकृति का यह परिवर्तन पुण्य मान ।

यदि कर न सके सुख-सृष्टि आज,

तो तू मानस की हार जान ॥

तेरी ही तो साधना जगत् के

उर में है अवतार लिये !

तू जीवन का अभिसार लिये !

४

मैं इस जीवन में आया हूँ

तुमसे परिचय पाने ।

एक सत्य को सुख से सौ-सौ

स्वप्नों में उलझाने ॥

सागर बनकर ओस-बिन्दु में, आया यहाँ समाने ।

उड़ जाऊँगा दो क्षण ही में—

जाने या अनजाने ॥

रात्रि दिवस के गीतों से आया संसार सुलाने ।

तुम्हें देख लूँगा प्रति पल,

जागृति के लिए बहाने ॥

एकाकी हूँ—सुख या दुख को, मेरा उर क्या जाने ?

जाग रहा हूँ अन्धकार के—

उर में ज्योति जगाने ॥

५

प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊँ ?

जिस ध्वनि में तुम बसे उसे,

जग के कण-कण में क्या बिखराऊँ ! प्रिय०

शब्दों के अधखुले द्वार से अभिलाषाएँ निकल न पातीं ।

उच्छ्वासों के लघु-लघु पथ पर इच्छाएँ चलकर थक जातीं ॥

हाय, स्वप्न-संकेतों से मैं

कैसे तुमको पास बुलाऊँ ? प्रिय०

जुही-सुरभि की एक लहर से निशा बह गई, डूबे तारे !

अश्रु-बिन्दु में डूब-डूबकर, दृग-तारे ये कभी न हारे !!

दुख की इस जागृति में कैसे,

तुम्हें जगाकर मैं सुख पाऊँ ?

प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊँ ?

६

जब तुम आये हो एक बार !

तब मैंने जाना है, जीवन बन गया मिलन का एक द्वार ॥

अपनी अभिलाषा का ज्योतित क्षण,

तुम में जाकर हुआ लीन !

जैसे नभ से तारा टूटा,

हो गया मार्ग में निराकार ॥

सिहरन-लहरों में अपनापन,
बह गया दूर, बह गया दूर!
अब मैं क्या हूँ, यह तुम जानो,
यह तुम जानो; मेरे उदार!!
यह ज्योत्स्ना, यह तरु, यह मानव,
ये सब प्रिय क्यों हो रहे ज्ञात?
कल की कलिका कहती है—
"बन्धन से कैसा सौरभ-प्रसार?"

७

भूलकर भी तुम न आये!
आँख के आँसू उमड़कर,
आँख ही में हैं समाये॥
सुरभि से शृङ्गारकर—
नव वायु प्रिय-पथ में समाई,
अरुण कलियों ने स्वयं, सज,
आरती उर में सजाई,
वन्दनाकर पल्लवों ने,
नवल वन्दनवार छाये॥
मैं ससीम, असीम सुख से,
सींचकर संसार सारा।

साँस की विरुदावली से,
गा रहा हूँ यश तुम्हारा।
पर तुम्हें अब कौन स्वर,
स्वरकार! मेरे पास लाये?
भूलकर भी तुम न आये!

८

मेरे जीवन की ज्योति जाग!
यह नव वसन्त है? नहीं, यहाँ–
रङ्गों में छिपकर लगी आग!!
अम्बर का यह विस्तृताकार
सन्ध्या में लेकर तिमिर-भार
है मौन बैठता—यहाँ भूमि है,
भ्रमित हो रही भाग-भाग। मेरे जीवन।

रजनी में भी राकेश-कान्ति–
किसको देती है अरे शान्ति?
उस नव बाला के कलित कण्ठ से-
मुखरित है विचलित विहाग।
मेरे जीवन की ज्योति जाग!

६

मैं आज तुम्हारे मन्दिर में
पूजा का कुछ सामान लिए-
आया हूँ एक वीतरागी-सा,
केवल अपने प्राण लिए ॥

दो प्रहर बीत भी सके न,
तन जर्जर हो गया-बहुत जर्जर;
जैसे तरु एक—और उसमें
साँसों का गूँज रहा मर्मर,
है शून्य दृष्टि, प्रतिबिम्बित है,
यह शून्य-शून्य-सा अमराम्बर;
तारों के दो आँसू अटके हैं
एक इधर है—एक उधर,
यह फूल खिला है—बेचारा ! !
केवल गिरने का ज्ञान लिए ॥

मैं आज तुम्हारे मन्दिर में
पूजा का कुछ सामान लिए-
यह कौन कह रहा है ··· देखो-
सन्ध्या प्रातः में है अन्तर ;
इन सासों के लघु लघु प्रवाह में
बीत चुके हैं मन्वन्तर,

यह सब संसार सिमिट जैसे—
बस गया आज मेरा अन्तर;
चिर अन्धकार में दीपक सी—
मेरी चितवन हो गई अमर,
मैं जागृत हूँ! मैं सोऊँगा क्यों?
बिना एक पहिचान लिए ।।
मैं आज तुम्हारे मन्दिर में
पूजा का कुछ सामान लिए—

१०

मैं तुमसे मिल जाऊँ!
फूलों के कुछ छन्द बनाकर
इस उपवन में गाऊँ ।।
मलय समीरण-सी तुम आओ—
बन्धनहीन विहारिणि,
जगत् तुम्हें क्या पावे? मैं
अपनी साँसों में पाऊँ ।।
सुख-दुख तो कंटक-से हैं
देखो इनको दुखहारिणि,
ये लगते रहते हैं, जिससे
मन इनमें उलझाऊँ ।।
मैं तुमसे मिल जाऊँ।

११

वियोगिनि, यह विरह की रात !
आँसुओं की बूँद ही में बह गई अज्ञात !
कब मिले थे वे–तुझे क्या है न कुछ भी याद ?
खोजती ही रह गई, जग का बुझा-सा प्रात ॥
अन्धकार प्रशान्त था–नभ के हृदय में, और—
तू न उसको पारकर जग में रही अज्ञात ॥
वियोगिनि, यह विरह की रात !

१२

तुम्हें आज पाकर चञ्चल हूँ,
मैं आशाओं के उभार में।
जैसे ये तारे देखो—
दुहरे-तिहरे हो उठे धार में ॥
ध्वनि-लहरें हिल-डोल उठीं, इस पार और उस पार हमारे,
जैसे मौन सुरभि की लघु गति,
फैल गई है हार हार में ॥
ज्योत्स्ना है, मानो अपने वे रजत स्वप्न सच होकर आ,
जुही झांकती है समीर को,
लता-कुंज के द्वार द्वार में ॥
आओ, अपनी छाया में हम प्रेम-मिलन के चित्र निहारें,
एक बार में दो मिलाप है,
देखो तो अपने विहार में ॥

इसी मिलन के बल पर मैं, नश्वरता सुख से सहन करूँगा।
अपनेपन का भार खो चुका,
अश्रु-धार के एक ज्वार में॥

१३

मैं जीवन में जाग गया!
धूमराशि-सा गिरकर, उठकर,
सुख-दुख का भय भाग गया!!
कोकिल कूक उठी क्षण भर में,
अनायास पञ्चम था स्वर में।
एक मधुर वर्षा, मधु-गति से—
बरस गई मेरे अम्बर में॥
स्पर्श, शब्द, रस, रूप, गन्ध का—
क्या अनुराग, विराग गया?
दीप शिखा वह हिलकर घूमी,
शलभ-राशि छवि-मद में झूमी।
नेत्र देखते रहे—दैत्य-सी
ज्वाला ने कोमलता चूमी॥
और शलभ, वह दीपक को—
जग में जलता ही त्याग गया!!
मैं जीवन में जाग गया!

आकाश-गंगा

(१९५७)
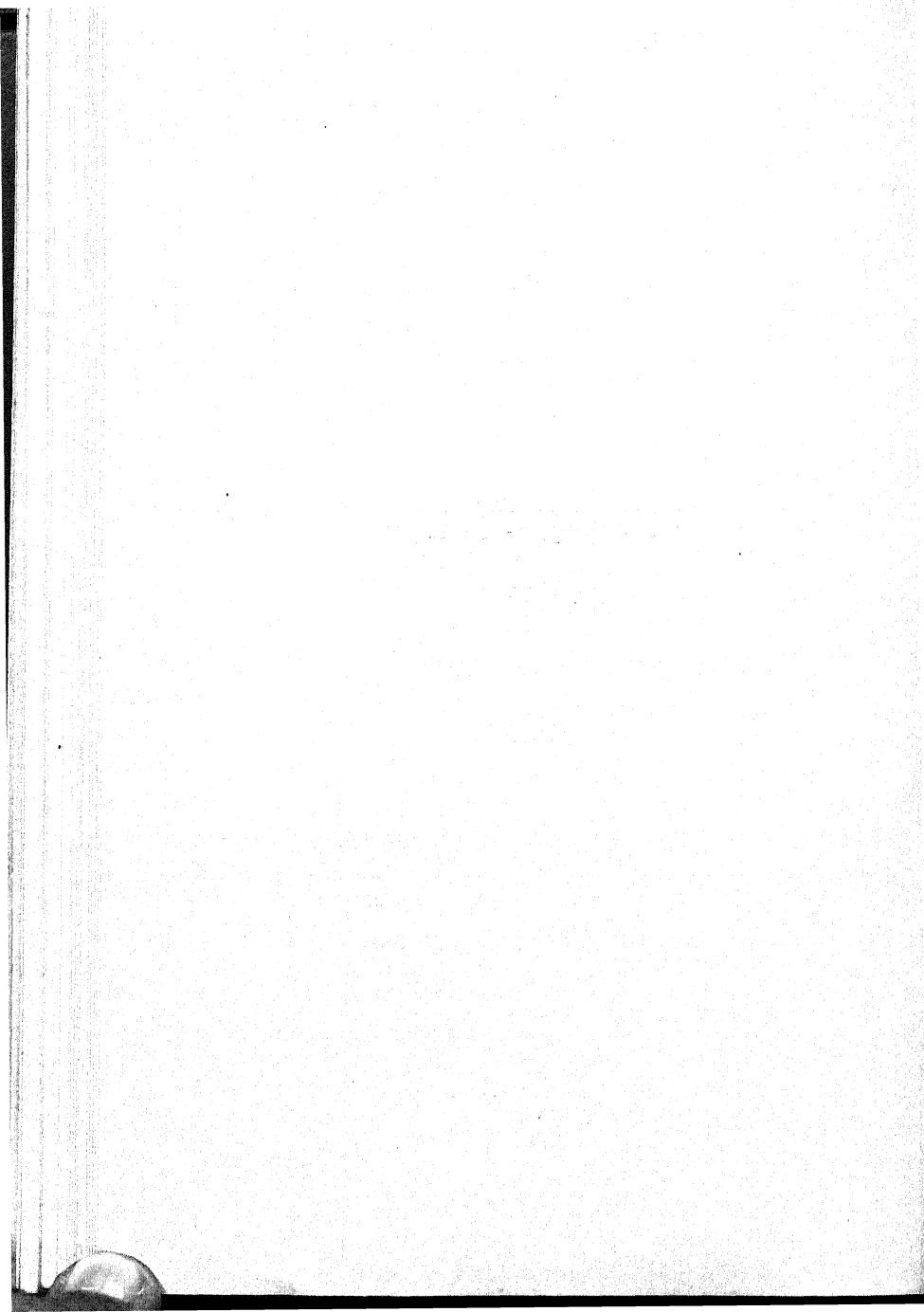
साधना संगीत

आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय!
आरती घूमे कि खिन्चता जाय
रंजित क्षितिज - घेरा,
धूम-सा जल कर भटकता
उड़ चले सारा अंधेरा।
हो शिखा स्थिर, प्राण के
प्रण की अचल निष्कंप रेखा,
हृदय की ज्वाला, हंसी में
दीप्ति की हो चित्र - लेखा।
श्वास ही मेरी, विनथ की भारती बन जाय!
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय!
वह हंसी मन्दिर बने
मुस्कान क्षण हों द्वार मेरे,
तुम मिलो या मैं मिलूं
ये मिलन पूजा - हार मेरे।
आज बन्धन ही बनेंगे
मुक्ति के अधिकार मेरे,
क्यों न मुझमें अवतरित
होकर रहो स्वरकार! मेरे।

प्राण - वंशी प्रेम की ही चिर व्रती बन जाय !
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !

स्वर-साधना

प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूं मैं।
दो उरों के मिलन में
मिट जाय वह अन्तर बनूं मैं।
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूं मैं।
करुण जीवन जब कि हिम की विकल घुलती धार-सा हो,
या कि सिसकी से उठे दो आंसुओं के भार-सा हो,
सिक्त उससे हो उठे उस
धूल का कण-भर बनूं मैं,
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूं मैं।
प्रेम की इस अग्नि से क्यों धूलि सी उठती निराशा ?
क्यों हृदय की भावना को मिल सकी अब तक न भाषा ?
हों तुम्हारे ये लजीले प्रश्न
तो उत्तर बनूं मैं,
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूं मैं।
तारिका है या किसी की कांपती है तरल सिसकी ?
क्षीण शशि में नत हुई-सी दीखती है पलक किसकी ?

जो इन्हें उर में सजा ले
वह सदय अम्बर बनूं मैं,
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूं मैं।

अग्रसर होना निरन्तर ही बना अस्तित्व जिसका,
कठिनतर अवरोध से ही बन सका व्यक्तित्व जिसका,
प्राप्त कर पद-ध्वनि तुम्हारी
गीतिमय निर्झर बनूं मैं,
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूं मैं।

रक्त डूबा क्रौंच भू पर अरुण बादल-सा विनत हो,
क्रौंच के चीत्कार से वन-प्रान्त जैसे कान्ति-हत हो,
तब करुण-उर आदि कवि के
काव्य का अवसर बनूं मैं,
प्रिय, तुम्हारा स्वर बनूं मैं!

जागरण की ज्योति

जागरण की ज्योति भर दो, नींद के संसार में तुम।
जब कि जीवन - रेख - सी यह
सांस ही मुझ में खिंची हो।
और मेरे हृदय के प्रिय विरह
से करुणा सिंची हो।

अश्रु बन कर ही मिलो प्रिय,
प्रेम के अभिसार में तुम।
जागरण की ज्योति भर दो, नींद के संसार में तुम।

ज्ञात होता है कि यह दुख
दृग - रहित है, पथ न पाते।
भूल कर ये हाय, मेरे पास
ही फिर लौट आते।
दृष्टि उनको या कि साहस
दो मुझे उपहार में तुम।
जागरण की ज्योति भर दो, नींद के संसार में तुम।

ये बधिर दिन - मास जैसे
एक गति - क्रम जानते हैं।
नव उषा में राग, निशि में
एक ही तम जानते हैं।
राग में हो लीन, गूंजो
बीन की झनकार में तुम।
जागरण की ज्योति भर दो, नींद के संसार में तुम।

प्रात - शशि क्यों पागलों के
मुख - सदृश इतना विकृत है?
एक शीतल सांस गहरी
मलय - झोंके में निहित है।

रूप - ऋतुपति बन हंसो प्रिय,
सुमन के अवतार में तुम।
जागरण की ज्योति भर दो, नींद के संसार में तुम।

और यह निर्झर सदा ही
गा रहा है एक स्वर में।
किन्तु उसकी मधुरता, कण-
भर न पाई आयु - भर में।
मधुर स्वर बनकर समाओ
मिलन के दिन चार में तुम।
जागरण की ज्योति भर दो, नींद के संसार में तुम।

मौन करुणा

मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।
जानता हूँ, इस जगत में
फूल की है आयु कितनी।
और यौवन की उभरती
सांस में है वायु कितनी।
इसलिए आकाश का विस्तार
सारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

प्रश्न - चिह्नों में उठी हैं
भाग्य - सागर की हिलोरें।
आंसुओं से रहित होंगी
क्या नयन की निमित कोरें ?
जो तुम्हें कर दे द्रवित
वह अश्रु - धारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

जोड़ कर कण - कण कृपण
आकाश ने तारे सजाये।
जो कि उज्ज्वल हैं सही,
पर क्या किसी के काम आये ?
प्राण ! मैं तो मार्ग-दर्शक
एक तारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

यह उठा कैसा प्रभंजन !
जुड़ गईं जैसे दिशाएं !
एक तरणी, एक नाविक
और कितनी आपदाएं !
क्या कहूँ, मझधार में ही
मैं किनारा चाहता हूँ !
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

विश्वास

सुख न है संसार में, वह है दुखों की एक विस्मृति।
मध्य में है एक क्षण, इस ओर अथ, उस ओर है इति ॥
यह उषा का रंग चंचल
बादलों की भूमिका है।
और बादल, उमड़ता
उच्छ्वास मेरी भूमि का है।
जो मुझे प्रतिपल बदलती, है
नहीं वह अमर संसृति।
सुख न है संसार में, वह है दुखों की एक विस्मृति।
भावनाओं में उभरने का
अधिक से अधिक प्रण था।
किन्तु देखा विश्व में मैंने कि
मैं लघु एक कण था।
पर अमर बनकर रहेगी
विश्व में मेरी कला-कृति।
सुख न है संसार में, वह है दुखों की एक विस्मृति।

किसी की बात

तुम मुझ से कुछ भी न कहो पर
जलन न जा सकती है जी की।

जिस क्षण में तुम विलग हुए थे,
युग युग होगी याद उसी की।

दो साँसों से कैसे अपने
जीवन का यह सिन्धु उलीचूं?
शेष रहा है क्या जीवन में,
जिसको अश्रु-कणों से सींचूं?

आशा की कुछ हरियाली थी,
सूख चुकी है हाय, कभी की।
तुम मुझ से कुछ भी न कहो पर
जलन न जा सकती है जी की।

कभी ज्ञात होता है तुम,
आये हो चुपके-से सिरहाने।
मैं निद्रा ही में हूँ अथवा,
जाग गया हूँ-ईश्वर जाने!

उस अवसर पर तुमने इतनी,
निष्ठुरता तो कभी नहीं की।
तुम मुझ से कुछ भी न कहो पर,
जलन न जा सकती है जी की।

तुमको अब तक पा न सका हूँ,
यह जीवन की करुण कथा है।

सांसों के पथ पर एकाकिन,
अब तक चलती रही व्यथा है।

फिर भी मैंने अपनी सारी,
आयु प्रतीक्षा की रजनी की।
तुम मुझसे कुछ भी न कहो पर,
जलन न जा सकती है जी की।

जल-धारा पर लहराया शशि,
पर क्या भीगी एक कला भी?
दीपक क्या कुछ बोल सका,
वह शलभ गिरा, सौ बार जला भी।

तुम जाओ, मैं मौन रहूँ,
दुनिया क्यों जाने बात 'किसी' की?
तुम मुझ से कुछ भी न कहो पर,
जलन न जा सकती है जी की।

संकेत

आज मेरी प्रार्थना रिमझिम बनी बरसात की।
प्रिय-मिलन के अधखुले स्वर
बूंद बन कर झर रहे हैं,
जल भरे इन बादलों को
देख दृग क्यों भर रहे हैं?

सिसकती-सी भावनाओं में बसी है चातकी।
आज मेरी प्रार्थना रिमझिम बनी बरसात की।

बादलों की श्याम रेखा
भाग्य-रेखा बन न जाए,
फूल तक इन कंटकों में
आ गये, पर तुम न आए,
जो प्रतीक्षा प्रात की थी बन गई वह रात की।
आज मेरी प्रार्थना रिमझिम बनी बरसात की।

इस दिशा से उस दिशा तक
इन्द्रधनुषी प्रिय संदेसे,
वायु-लहरों बीच मैंने
कुछ कहे या कुछ कहे-से,
सांस से ही जान लेना जो कि मैंने बात की।
आज मेरी प्रार्थना रिमझिम बनी बरसात की।

अनन्त श्रृंगार

प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले स्वप्न का आकार हूँ मैं ?
जो बिखर कर भी संवरता है वही श्रृंगार हूँ मैं।
एक ही थी दृष्टि जिसमें
सृष्टि मेरी मुस्कराई।

थी वही मुस्कान जिसमें
हंसी जा कर लौट आई।
थी तुम्हारी गति कि जो
दुख में सदा सुख बन समाई।
भाग्य-रेखा क्षितिज-रेखा
बन प्रभा से जगमगाई।
टूट कर भी नित्य बजता, प्रेम का वह तार हूँ मैं।
प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले स्वप्न का आकार हूँ मैं ?

कौन सा वह क्षण दिया
जो प्राण में अनुराग बांधे।
कौन सा वह बल दिया
अनुराग में भी आग बांधे।
कौन सा साहस दिया जो
भूमि के सब भाग बांधे।
भूमि-भागों के मुकुट पर
मुस्कराता त्याग बांधे।
सूख कर भी जो हृदय पर खिल रहा है, हार हूँ मैं।
प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले स्वप्न का आकार हूँ मैं ?
बहुत सी बातें हुईं अब,
रात ढलती जा रही है।
कौन सा संकेत है जो,
सांस चलती जा रही है।

अवधि जितनी कम बची
उतनी मचलती जा रही है।
दीप्ति बुझने की नहीं
वह और जलती जा रही है।
मृत्यु को जीवन बनाने का अमिट अधिकार हूँ मैं।
प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले स्वप्न का आकार हूँ मैं ?

संकेत

तुम हृदय की बात हो तो मैं तुम्हें क्यों कंठ-स्वर दूँ ?
इस नई पहिचान में क्यों दूसरों की दृष्टि भर दूँ ?
मैं नहीं यह चाहता हूँ
प्रेम का परिहास हो,
जोड़ दे तुम से मुझे
लघु रेख सी वह साँस हो,
जो उषा में खिल उठे उस
फूल सा विश्वास हो,
जो न सागर से बुझाई
जा सके वह प्यास हो।
गूंजती जो हृदय में, उस बाँसुरी पर क्या अधर दूँ !
तुम हृदय की बात हो तो मैं तुम्हें क्यों कंठ-स्वर दूँ ?

समय के दल पर रखा
यह ओस-सा संसार है,
जो कि बारंबार वीणा पर
चढ़ा वह तार है,
जो बजा ले जिस तरह
यह नाद का व्यापार है,
जीत का स्वर कंठ में भर
गुनगुनाती हार है।
क्यों न अपनी हार को ही जीत का संसार कर दूँ?
तुम हृदय की बात हो तो मैं तुम्हें क्यों कंठ-स्वर दूँ?

लहर के खिंचते धनुष पर
नव किरण का बाण है,
एक तारक-बिम्ब में
सिमटा हुआ बस प्राण है,
साधना के व्योम का क्या
हो सका परिमाण है?
प्रेम की प्रति पूर्णिमा में
तिमिर का निर्वाण है।
तुम मुझे पहिचान लोगे यदि तुम्हें संकेत भर दूँ?
तुम हृदय की बात हो तो मैं तुम्हें क्यों कंठ-स्वर दूँ?

रंग-रहित चित्र

इस जग का सारा ज्ञान
तुम्हारा पद-रज-कण भी बन न सका !
मेरे जीवन का अन्तराल
दर्शन का क्षण भी बन न सका !

कितने दिन आये, गये
आज उनकी समाधि पर अंधकार,
कितने सुख-दुख के फूल
धूल के अतिथि बन चुके बार बार,
जीवन के कंधों पर रख कर
दुहरी साँसों का शून्य भार,
मैं आज यहाँ तक आया हूँ
करने भविष्य का नव सिंगार !

पर मेरे स्वर का सरस राग,
प्रणयी का प्रण भी बन न सका !
इस जग का सारा ज्ञान,
तुम्हारा पद-रज-कण भी बन न सका !

इन उथली स्मृतियों में मेरे,
स्वप्नों के सागर लहराते,
जो चित्र बड़े निखरे - से थे
वे धूमिल-से पड़ते जाते,

मैं सोच रहा हूँ, अमर उषा के
रंग उन्हें यदि रँग पाते,
तो ये मेरे जीवन-नभ में
नक्षत्रों के स्वर से गाते।
पर वह भविष्य का चन्द्र,
आज की क्षीण किरण भी बन न सका !
मेरे जीवन का अन्तराल
दर्शन का क्षण भी बन सका !

मैं अपने व्रत पर अडिग
किन्तु मुझको मन पर विश्वास नहीं,
जो पहले था उच्छ्वास आज
वह उर में है उच्छ्वास नहीं,
मेरी साँसें कहने को मेरी
हैं, पर मेरे पास नहीं,
नभ विस्तृत है पर किसी हृदय का
कभी बना अधिवास नहीं,
मेरा जीवन इन चरणों में प्रिय
अमर मरण भी बन न सका !
इस जग का सारा ज्ञान
तुम्हारा पद-रज-कण भी बन न सका !
हाँ, मृत्यु यहाँ क्षण-भंगुर है
जीवन है प्रिय शाश्वत विधान,

है जागृति दोनों ओर, बीच में
स्वप्न जुड़ गया है महान्,
मेरे सुख दुख के शशि-रवि हैं,
जो गति का ही गा रहे गान,
इन सबको मैं क्या जानूँगा
जब अपने को पाया न जान!
पथ विस्तृत है सम्मुख मेरे
मैं अचल चरण भी बन न सका!
मेरे जीवन का अन्तराल
दर्शन का क्षण भी बन न सका।

स्वर-लिपि

इस मधुर संगीत में
स्वर-लिपि विरह के गान की है।
एक अनजानी कहानी
रसमयी पहिचान की है॥
तार की झनकार में
शतदल मधुर स्मृति के खिले हैं,
उमँगती-सी उर्मियों में
प्राण दो बह कर मिले हैं,
इस मिलन को तुम न कहना
यह कथा अवसान की है।

एक अनजानी कहानी
रसमयी पहिचान की है॥
वंशिका के शून्य रन्ध्रों—
मध्य स्वर के सिंधु संचित,
उस तरह यह शून्य-सा
अस्तित्व है अनुराग-रंजित,
मधुर स्वर-लहरी तुम्हारी
एक ही मुस्कान की है।
एक अनजानी कहानी,
रसमयी पहिचान की है॥
राग प्रतिध्वनि में लुटा
अवशेष बस केवल व्यथा है,
एक मूर्च्छित मूर्च्छना में
जग उठी प्रिय की कथा है,
यह कथा संताप के
स्वर में कही बरदान की है।
एक अनजानी कहानी
रसमयी पहिचान की है॥
जब कि यह संगीत है तो
व्यर्थ है संसार लेखा,
गूँजते - से तार - सी
मेरी खिंची है भाग्य-रेखा,

क्योंकि छन्दों की प्रभा
केवल प्रभाती प्राण की है।
एक अनजानी कहानी
रसमयी पहिचान की है॥

साधना के स्वर

कष्ट की गहराइयों में डूबकर
जो खिला वह हृदय का जलजात है।
पूछता है कौन सुधि की
अश्रु सिंचित सजल दूरी,
बात मैं पूरी कहूँ,
हर बार रह जाती अधूरी,
साँस की सौ ग्रंथियों में गूँथ लूँ
पर बिखरने को बनी यह बात है।
कष्ट की गहराइयों में डूबकर
जो खिला वह हृदय का जलजात है।
कल्पना की पंक्तियों में
हैं अकर्मक सब क्रियाएँ,
और जीवन के अभावों से
बनी हैं भावनाएँ,
इस विरह की नित्य बढ़ती राशि में
लघु मिलन का कौन सा अनुपात है?

कष्ट की गहराइयों में डूब कर
जो खिला वह हृदय का जलजात है।

दृष्टि के मंगल कलश पर
प्रेम की लौ जगमगाती,
साधना की एक कलिका,
फूल बन कर चढ़ न पाती,
तारकों की अधखिली कलियाँ लिये
भाग्य सी बैठी अँधेरी रात है।
कष्ट की गहराइयों में डूब कर
जो खिला वह हृदय का जलजात है।

इस गगन के शून्य में
अनुभूति की है चित्रकारी,
इन्द्रधनुषी मेघ सी मैं
खींचता हूँ स्मृति तुम्हारी,
किन्तु आँखों में उमड़ कर रात-दिन
आँसुओं की मदभरी बरसात है।
कष्ट की गहराइयों में डूब कर,
जो खिला वह हृदय का जलजात है।

यह उठी रोमांच सिहरन
रात के अन्तिम प्रहर-सी,

शून्य नभ की भाँति मैं हूँ
क्षितिज - रेखा है अधर-सी,
यदि मिले मुस्कान क्षण भर के लिये
तो कहूँगा प्रेम का यह प्रात है।
कष्ट की गहराइयों में डूब कर
जो खिला वह हृदय का जलजात है।

आत्म-समर्पण

सजल जीवन की सिहरती धार पर
लहर बन कर यदि बहो तो ले चलूँ।

यह न मुझसे पूछना, मैं किस दिशा से आ रहा हूँ,
है कहाँ वह चरण-रेखा, जो कि धोने जा रहा हूँ,
पत्थरों की चोट जब उर पर लगे
एक ही 'कल-कल' कहो तो ले चलूँ।

सजल जीवन की सिहरती धार पर,
लहर बन कर यदि बहो तो ले चलूँ॥

मार्ग में तुमको मिलेंगे वात के प्रतिकूल झोंके,
दृढ़ शिला के खण्ड होंगे दानवों से राह रोके,
यदि प्रपातों के भयानक तुमुल में
भूल कर भी भय न हो तो ले चलूँ।

सजल जीवन की सिहरती धार पर
लहर बन कर यदि बहो तो ले चलूँ ॥

हो रही धूमिल दिशाएँ, नींद जैसे जागती है,
बादलों की राशि मानो मुँह बनाकर भागती है,
इस बदलती प्रकृति के प्रतिबिम्ब को
मुस्कराकर यदि सहो तो ले चलूँ।

सजल जीवन की सिहरतो धार पर
लहर बन कर यदि बहो तो ले चलूँ ॥

मार्ग से परिचय नहीं है किन्तु परिचित शक्ति तो है,
दूर हो आराध्य चाहे प्राण में अनुरक्ति तो है,
इन सुनहली इन्द्रियों को प्रेम की
अग्नि से यदि तुम दहो तो ले चलूँ।

सजल जीवन की सिहरती धार पर,
लहर बन कर यदि बहो तो ले चलूँ ॥

वह तरलता है हृदय में किरण को भी लौ बना दूँ,
झाँक ले यदि एक तारा, तो उसे मैं सौ बना दूँ,
इस तरलता के तरंगित प्राण में—
प्राण बन कर यदि रहो तो ले चलूँ।
सजल जीवन की सिहरती धार पर,
लहर बन कर यदि बहो तो ले चलूँ ॥

पद-वंदन

मीरां! पद - वंदन तुम्हारा बार - बार है
वंदना की स्वामिनी! मुझे दो वह रागिनी।
जिसके स्वरों में कृष्ण 'गोकुल गोपाल' हों
नाच उठें होके अनुरागी, अनुरागिनी!

कौन सी थी रागिनी जो अश्रु - विन्दु में सजी
झाँकती थी लोचनों के संकुचित कोने में
नेत्र की कनीनिका में गोकुल का ग्राम था
राधा नत होती पलकों के नत होने में!

देवि! राजनीति की मरुस्थली में तुमने
भक्ति की तरंगिनी जो थी उसे भागीरथी—
करके बहा दी। अह! कण कण जानता
ऐसी साधना तो इस विश्व में कहीं न थी!

कौन वह क्षण था, कि जो तुम्हें सुजन्म दे
फैला है शताब्दियों में प्राण-सा सजग हो।
छेड़ता है मेड़ता का राग, जहाँ तुमने,
बाल्य-काल में की भक्ति जग से अलग हो!

गिरिवर लाल में तुम्हारा बाल्य - काल था,
यौवन था, यौवन का वैभव समस्त था।
क्यों फिर विवाह—इस जगत के ज्वर में!
क्या तुम्हारी चेतना का रूप अस्त - व्यस्त था?

तुमने लिया था व्रत, तुम तो अचल थीं,
सारा जग त्रस्त और ध्वस्त तुम्हें कर दे।
किन्तु कौन था जो प्रेम - बाँसुरी सुरीली में,
भूल के भी भूला हुआ एक स्वर भर दे ?

किसका वैधव्य ? और कौन पति-हीन है ?
मुख में निरन्तर ही भक्तिमय मौन है।
'जाके सिर मोर - मुकुट मेरो पति सोई'
'गोकुल - गोपाल' पति छोड़ और कौन है ?

कितनी तुम्हें दीं यन्त्रणाएँ देवि ! बोलो तो,
विष भी भरा गया तुम्हारे आयु - पात्र में।
किन्तु 'कृष्ण' नाम के रसायन के स्पर्श से,
हो गया अमृत वह, एक क्षण मात्र में !

और वह सर्प ! तीव्र विष का कुबेर जो,
भेजा गया एक बार पूजा की पिटारी में।
खोलकर देखा जब तुमने प्रसन्न हो,
कुंद पुष्प - हार जैसे बिखरा हो क्यारी में।

छोड़ परिवार तुम द्वारका चली गईं,
गाती हुई प्रेम - गीत निज नन्दलाल का।
तुम तो हुईं थीं मुक्त भाव के गगन में,
भय था जहां न लेश मात्र मोह - जाल का।

कविता के नूपुर तुम्हारे 'पद' में सजे
ध्वनि सुन - सुन कर दिशाएं धन्य हो गईं।
'रस' मयी 'ध्वनि' कंठ में थी 'समलंकृता'
काव्य - परिभाषा अन्य हो के धन्य हो गई ॥

सांसों का 'प्रवाह' था, हृदय मंजु 'ताल' था
प्रेम-मूर्च्छा 'मूर्च्छना' थी, 'मींड़' कष्ट-काल था।
वेदना के 'ताल' 'स्वर' गूंजते 'अभंग' थे
बन के त्रिभंग रूप नाचा नंदलाल था।

एक ही 'भ्रमर - गीत' ऊधो गोपिका का था,
किन्तु है 'अमर गीत' मीरां मतवाली का।
ऊधो कौन ? एक नंदलाल ही था सामने,
ध्यान ध्रुव धारण किया था बनमाली का।

जग के प्रणय में संजोया था दिव्य रंग,
कृष्ण - भक्ति साधना की ऐसी बनी साधिका।
सांस सांस में थी गोपिकाओं की अनन्यता,
रोम रोम में निवास करती थी राधिका।

कृष्ण ! तुम पूजित शताब्दियों से हो रहे,
श्रद्धा, भक्ति जीवन की, हृदय की, अतः दूँ।
किन्तु एक बार नहीं 'राधा कृष्ण' बोलूँगा,
चाहे मैं प्रत्येक बार 'मीरां कृष्ण' कह दूँ।